चिकित्सा :
बढ़ते चरण
गिरते स्तर

डॉ० श्रीगोपाल काबरा

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

डॉ. श्री गोपाल काबरा

प्रकाशक : पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, जयपुर–302003

संस्करण : 1991

मूल्य : पचास रुपये

मुद्रक : गोपाल आर्ट प्रिण्टर्स
जयपुर–302003

प्रस्तावना

चिकित्सा विज्ञान ने अप्रत्याशित प्रगति की है। निदान एवं चिकित्सा के लिए अति प्रभावशाली औषधियाँ और अति आधुनिक तकनीकी उपकरण उपलब्ध हुए हैं। इनके उपयोग के लिए उच्चस्तरीय कुशलता एवं दक्षता अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य भी है। अकुशल व अदक्ष हाथों में यह वैज्ञानिक प्रगति अभिशाप से कम नहीं।

आधुनिक चिकित्सा साधनों के सुचारु उपयोग के लिए आवश्यक है कि इनका संचालन वैज्ञानिक और नियन्त्रण तथ्यात्मक हो। व्यक्तिगत धारणाओं पर आधारित नियन्त्रण व्यवस्था अनुचित व हानिकारक है।

संकलित लेखों में चिकित्सा और स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं का तथ्यात्मक विवेचन प्रस्तुत है। समय-समय पर प्रकाशित कुछ लेखों के आंकड़े उसी वर्ष तक सीमित हैं। नए आंकड़े नहीं जोड़े गए हैं; कारण, उन पर आधारित निष्कर्ष आज भी उतने ही सामयिक हैं।

श्री गोपाल काबरा

अनुक्रम

रखवाले ही दुश्मन

आधुनिक चिकित्सा का सर्वश्रेष्ठ और निकृष्टतम पहलू बम्बई में देखने को मिलता है। कुछ के लिए श्रेष्ठ और बाकी सबके लिए निकृष्ट, यह सच्चाई कमोबेश सभी महानगरों पर लागू है। उत्तरदायित्वहीन, निष्क्रिय और लुंजपुंज प्रशासन के कारण जैसा अनियमित और अनियन्त्रित व्यावसायिक विकास महानगरों में चिकित्सा का हुआ है, उसके कारण स्थिति बाड़ द्वारा खेत खाने वाली हो गयी है। स्वास्थ्य के रखवाले ही आज उसके सबसे बड़े दुश्मन हो गये है। आधुनिक चिकित्सा की संविधानिक संरक्षक इण्डियन मेडिकल काउंसिल को ही लीजिए। चिकित्सा के क्षेत्र में आज इसे सेवानिवृत्त बेकार डॉक्टरों का पिंजरापोल माना जाता है, जहाँ वेतन और यात्रा भत्ते के लिए प्रोफेशन की बूढ़ी गायें, निरीक्षक के पदों पर कुछ वर्षों के लिए रख ली जाती है।

काउंसिल द्वारा चिकित्सा के शैक्षणिक संस्थानों का निरीक्षण महज पाखंड रह गया है। निरीक्षक पार्टी खाने, शराब पीने, खातिर-तवज्जोह करवाने जाते है, न कि निरीक्षण करने। उनके आगमन की तैयारी में स्टाफ चंदा करता है, पार्टियाँ दी जाती हैं, शराब उड़ती है और उनको हर तरह से, खुश करने की कोशिश की जाती है। कागजी कार्रवाई के लिए नियमों के पालन की खाना-पूर्ति भी होती है। अगर जगह नहीं है, तो कुछ दिनों के लिए व्यवस्था की जाती है। स्टाफ नही है, तो निरीक्षण की अवधि के लिए बाकायदा सरकारी आदेश पर वहां स्टाफ स्थानांतरित होता है। अगर उपकरण नही हैं, तो कुछ दिनों के लिए उधार लेकर दिखाये जाते हैं। यह सब पाखंड खुले आम और निरीक्षकों की जानकारी में होता है।

काउंसिल चिकित्सा के नैतिक मूल्यों और तकनीकी स्तर की भी संरक्षक है। मेडिकल काउंसिल ऑफ इण्डिया एक्ट के तहत बने नियमों और आचार-संहिता का पालन करवाने का दायित्व काउंसिल का है। उनका पालन न करने वालों का रजिस्ट्रेशन निरस्त करने का अधिकार मेडिकल काउंसिल को है, लेकिन आचार संहिता की अवहेलना आज आम है। मसलन, एक चिकित्सक के लिए अपनी क्षमता,

योग्यता, उपचार, निदान अथवा दवा का विज्ञापन करना निषिद्ध है। एक रजिस्टर्ड एलोपैथिक प्रैक्टीशनर, जो जाने-माने अभिनेता भी है, आजकल टेलीविजन पर सिरदर्द की गोली का विज्ञापन करते हुए दिखते है। उनकी इस अनैतिक कार्रवाई के के लिए काउंसिल से शिकायत की गयी, तो फालतू की खतो-किताबत के बाद काउंसिल ने महज यह किया कि यह शिकायत उन्होंने प्रांतीय शाखा को भेज दी और पत्र की प्रतिलिपि शिकायतकर्त्ता को भेज, अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली। यही उन्होंने कुछ समय पूर्व एक अन्य डॉक्टर के खिलाफ आयी शिकायत को लेकर भी किया, जिसने गर्भस्थ शिशु के आचार, व्यवहार अपेक्षित कुशलता, दक्षता या नैतिकता पर इण्डियन मेडिकल काउंसिल का न कोई नियन्त्रण है, न ही इस ओर कोई प्रयास।

औषधियो के उत्पादन, वितरण और प्रयोग पर नियन्त्रण का काम औषधि नियन्त्रक का है। केन्द्र और प्रांतीय नियन्त्रकों से यह सांविधानिक अपेक्षा होती है कि वे उचित नियन्त्रण द्वारा औषधियो के सम्भावित कुप्रभावों से जन साधारण की रक्षा करेंगे, लेकिन यथार्थ इसके उलट है। औषधि नियन्त्रण प्रशासन की 'कार्य-प्रणाली और कार्यक्षमता' को उजागर करने के लिए कुछ ही नमूने काफी होंगे।

ड्रग्स कंट्रोलर द्वारा लाइसेंस के तहत एक गर्भपातक पेस्ट का उत्पादन, प्रचार और विक्रय हुआ। हजारो महिलाओं ने गर्भपात के लिए इसका प्रयोग किया। शीघ्र ही इसके भयानक कुप्रभाव की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। सैकड़ो महिलाएँ इसकी बलि चढ़ी।

स्टेराइडयुक्त दवाओ के लम्बे अरसे तक प्रयोग से आदमी अंधा हो सकता है। लेकिन इस विषय की चेतावनी दवा पर नही लिखी होती। चूंकि यह दवा आँखों की एलर्जी आदि में बड़ा आराम देती है, अतः अज्ञानवश इसका उपयोग लम्बे समय तक किया जाता है। हाल ही में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार इन दवाओ से सैकड़ो लोग अंधे हो रहे है। नेत्र विशेषज्ञों का भी कहना है कि उचित चेतावनी दवा पर लिखी होनी चाहिए और उपभोक्ता को मालूम होनी चाहिए। ड्रग्स कंट्रोलर को भी इस सबकी जानकारी है, लेकिन दवाओं से अंधे होने से रोकने की कोई चेष्टा अभी तक नही की गयी है।

एल्यूमीनियम फॉस्फाइड एक अति घातक विष है। पेस्टीसाइड के रूप में इसकी गोलियाँ खुले बाजार मे उपलब्ध है। इसको जाने-अनजाने खाने से लोगों की मृत्यु का सिलसिला जारी है। औषधि नियन्त्रक या अन्य प्रशासनिक अधिकारियों ने इस विषय मे अभी तक कोई ठोस कदम नही उठाया है।

ईस्ट्रोजन-प्रोजेस्टरोन की संयुक्त औषधि का गर्भनिदान के लिए अति हानिकारक होते हुए भी खुले आम उपयोग, क्लोरोमाइसिटीन के अनियन्त्रित उत्पादन और दुरुपयोग से उत्पन्न अप्लास्टिक एनीमिया से होती अकाल मौतें आदि अनेक पहलू है, लेकिन जो ड्रग्स कंट्रोलर, हानिकारक औषधियों को न खरीदने के अपने आदेश का ही पालन नही करवा पाया, उस प्रशासक से कोई भी कारगर नियन्त्रण की आशा करना ही व्यर्थ है ।

भारत मे आज अनुमानतः 50 हजार एक्सरे मशीनें लगी हुई है, जिन पर प्रति वर्ष रोगो के निदान के लिए लाखों एक्स-रे प्रतिदिन होते है । जब किसी का एक्स रे होता है, तो वहां से छिटक कर आयी 'क्ष' किरणें चारों ओर बिखरती है और लकड़ी के दरवाजे और पतली दीवारों को पार कर आस-पड़ोस के लोगों को प्रभावित करती है । एक्स रे की बहुत कम मात्रा भी खतरनाक हो सकती है । कैंसर हो सकता है, बच्चे मे जन्मजात विकृतियां हो सकती है और बच्चो में कैंसर की दर बढ जाती है । इस खतरनाक 'क्ष' किरणों के सुरक्षित उपयोग के लिए भाभा एटोमिक रिसर्च सेंटर के रेडियोलॉजिकल प्रोटेक्शन डिवीजन ने इस विषय मे नियम बनाये है जिनका पालन करवाना राज्य सरकारों के हाथ मे है । एक्स रे कानूनन औषधि है, अतः ड्रग्स कंट्रोलर भी कार्य कर सकता है । लेकिन वास्तव मे इनके प्रयोग पर कोई नियन्त्रण नही है । एक्स रे की दुकानें व्यस्त बाजारों में खूब खुल रही है । इन खतरनाक किरणों के सावधानी से प्रयोग की ओर किसी का ध्यान नही है । फलस्वरूप कितने हजार बच्चे विकलांग पैदा होते है और कितने लोगों को इसके कारण कैंसर होता है, इसका अनुमान अणुविज्ञान का कोई भी ज्ञाता सहज ही लगा सकता है ।

1972 में गर्भपात को कानूनी मान्यता प्रदान की गयी, यह सोच कर कि अवैध गर्भपात में निहित यंत्रणा और त्रासदी मे महिलाओं को मुक्ति मिल सके । लेकिन स्त्री रोग विज्ञान की एक पत्रिका में प्रकाशित शोध-पत्रों के अनुसार, असर ठीक उलटा हुआ है । गर्भपात एक फायदेमंद व्यवसाय बन गया है । नियन्त्रण के अभाव में आज किसी को भी गर्भपात करने की छूट है । गर्भपात की संख्या में असीमित वृद्धि तो हुई है, लेकिन आज भी कानूनी गर्भपात के अनुपात मे दस से बीस गुना अधिक अवैध गर्भपात होते है । अवैध गर्भपात करने वाले व्यक्ति उनके द्वारा उपयोग किये गये घातक तरीके और उनसे उत्तरोत्तर बढ़ती मौतों का विवरण देश की वैज्ञानिक पत्रिकाओं मे अनेक बार प्रकाशित हुआ है ।

ड्रग्स एण्ड मैजिक रेमीडीज आब्जेक्शनेबल एण्ड एडवरटीजमेंट एक्ट के तहत असाध्य रोग जैसे कैंसर, मिर्गी, लकवा आदि, यौनवर्धक औषधियां और गर्भ रोकने-गिराने सम्बन्धी विज्ञापन को फौजदारी अपराध माना गया है, जिसके लिए विज्ञापन-

कर्ता, प्रकाशक और संपादक उत्तरदायी है। लेकिन ऐसे विज्ञापन चिकित्सा की व्यावसायिक संस्कृति के फलस्वरूप आज खुले आम दिये ही नही जा रहे, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं। इसके घातक परिणाम सोच कर ही संसद ने यह कानून बनाया था, लेकिन विडम्बना यह है कि दिल्ली की दीवारें यौन-वर्धक विज्ञापनों से भरी पड़ी हैं और बम्बई की रेलों के हर कंपार्टमेंट में 75 रुपये में गर्भपात का विज्ञापन मौजूद (गर्भपात कानूनी है, लेकिन इसका विज्ञापन नही) है। ऐसी हालत में आश्चर्य नहीं कि पत्र-पत्रिकाओं और दूरदर्शन पर हो रहे इन विज्ञापनों पर किसी का ध्यान न जाये।

रोगाणु और रोग

रतिरोग-1

शारीरिक संसर्ग द्वारा संचारित संक्रामक रोगों में रति रोग भारत में प्रमुख है। केन्द्रीय स्वास्थ्य महानिदेशक के आंकड़ों के अनुसार इस रोग में तेजी से वृद्धि चिन्ता का विषय है। रति रोग में प्रमुख है सूजाक (गोनोरिया) और सिफलिस। देश के अस्पतालों एवं रति रोग चिकित्सा केन्द्रों द्वारा प्रेषित मरीज के वार्षिक संकलित आंकड़ों पर आधारित सर्वेक्षण एवं तुलनात्मक तथ्यो के अनुसार पांडीचेरी, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु और मध्य प्रदेश में रति रोग अत्यधिक पाया जाता है।

केन्द्र शासित पांडीचेरी में पांच लाख की आबादी में दस हजार लोगों को प्रति वर्ष रति रोग होता है। सन् 1976 में इस प्रदेश में आबादी के हर एक लाख लोग में से 2,774 लोगों को यह रोग हुआ। तदोपरान्त तीन वर्ष इसमें कुछ कमी हुई, लेकिन 1980 में इसकी आघटन दर बढ़कर 2,962 प्रति लाख हो गयी। यह देश में सर्वाधिक ही नहीं, वरन् दूसरे नम्बर के महाराष्ट्र से चार गुना अधिक है और अमेरिका और स्वीडन में 1955 से 1975 तक की दर से पांच गुना अधिक है।

आन्ध्र प्रदेश, रति रोग के रोगियों मे सन् 1976 में दूसरे नम्बर पर था। यह दर 501 प्रति लाख लोग से प्रति वर्ष घटते हुए अब 283 प्रति लाख हो गयी है।

लेकिन महाराष्ट्र में इसके विपरीत रति रोग महामारी की तरह फैल रहा है। सन् 1976 में 210 प्रति लाख लोगों से बढ़कर सन् 1977 मे 310, 1979 में 392 और फिर सन् 1980 में दर एकदम बढ़कर 774 प्रति लाख लोगों में यह बीमारी है। इस प्रकार औद्योगिक रूप से समृद्ध इस प्रदेश का नम्बर अब दूसरा है और जिस रफ्तार से प्रदेश में यह फैल रहा है अगर उसे न रोका गया तो स्थिति एक भयानक रूप ले सकती है।

कर्नाटक में भी स्थिति संतोषजनक नहीं है। जहां 1976 में रति रोग 183 प्रति लाख था जो बाद के तीन वर्ष तक क्रमश: 275, 279 और 216 रहा।

1980 में गत वर्षों के अनुपात में अवश्य कमी हुई है, लेकिन अब भी दर 1976 से ऊपर ही है ।

तमिलनाडु और मध्य प्रदेश में भी यह रोग क्रमशः बढ़ रहा है । तमिलनाडु में सन् 1976 में 116 प्रति लाख आबादी से बढ़कर 1980 में यह 134 रहा है । इसी प्रकार मध्य प्रदेश में आघटन दर अनुपात में कम होते हुए भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है । 1976 से 1980 तक क्रमशः 46, 47, 55, 58 और 67 प्रति लाख आबादी रोगी रही है । आन्ध्र प्रदेश की भांति केरल ने भी इस रोग की रोकथाम में सफलता प्राप्त की है । प्रदेश में आघटन दर 1976 में 181 प्रति लाख आबादी से घटती हुई अब 1980 में केवल 83 रह गयी है ।

असम, बिहार, जम्मू-कश्मीर और पश्चिम बंगाल से, इस सम्बन्धी आंकड़े प्राप्त नहीं हैं । उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि से प्रेषित परिवेक्षण आंकड़े अपूर्ण हैं । अतः इन प्रदेशों के बारे में कुछ भी कहना संभव नहीं ।

वास्तव में रति रोग इस लेख के आंकड़ों से भी अधिक अनुपात में है । अधिकांश रोगी प्राइवेट डाक्टरों से चिकित्सा करवाते हैं, जो अपने आंकड़े नहीं भेजते । इसके अतिरिक्त कुछ रोगियों में अन्य रोगों के लिए दी जाने वाली आम दवाइयों के कारण रोग के लक्षण पूर्ण प्रकट नहीं होते ।

सूजाक के शुरूआत के दुखदायी लक्षणों के अलावा इससे उत्पन्न अन्य विकारों का परिणाम होता है बांझपन । पुरुषों में शुक्राणु वाहिनी नलिकायें और स्त्रियों में डिम्बवाहक नलिकायें रोगजनित शोथ से सदा के लिए अवरुद्ध हो जाती हैं ।

नौ से बीस प्रतिशत स्त्रियों में गम्भीर श्रोणिशोथ (पेट के नीचे का भाग जहां जननेन्द्रियां स्थित होती हैं वहां संक्रमण और सूजन) की बीमारी होती है । सर्वेक्षण के अनुसार मात्र एक बार श्रोणिशोथ के फलस्वरूप 13 प्रतिशत में डिम्ब वाहिनियां अवरुद्ध हो जाती हैं । दो बार श्रोणिशोथ होने पर 36 प्रतिशत में और तीन या तीन से अधिक बार होने पर 75 प्रतिशत में डिम्बवाहिनियां अवरुद्ध होकर स्त्रियां बांझ हो जाती हैं । उसी प्रकार पुरुषों में सूजाक के फलस्वरूप 17 से 30 प्रतिशत में शुक्राणु वाहिनी नलियां अवरुद्ध हो जाती हैं ।

सूजाक का आर्थिक प्रभाव इस तथ्य को समझा जा सकता है कि इस बीमारी के इलाज पर मात्र सन् 1972 में अमेरिका में अनुमानित खर्च इक्कीस करोड़ डालर था । साथ ही सिफलिस के मरीजों में गर्भ गिरने, मृत बच्चों के जन्म और नवजात शिशुओं में मृत्यु के आसार अत्यधिक होते हैं ।

विश्व में बढ़ते हुए रति रोग से चिन्तित विश्व स्वास्थ्य संगठन ने विषय के विख्यात विशेषज्ञों की बैठक बुलाकर रोग की रोकथाम के लिए विस्तृत सुझाव दिये

हैं। भारत मे इस सुझाव के अनुरूप, सरकारी और चिकित्सा स्तर पर कार्यवाही अति आवश्यक है।

रतिरोग–2

बदलते जीवन स्तर और नैतिक मूल्यों के साथ-साथ रतिज रोग जिस रफ्तार से फैल रहे है, देश में ही नही, सारे विश्व में एक गम्भीर समस्या, बन गई है। देश में रतिज रोग की व्यापकता एक गहरी चिन्ता का विषय है। विश्व के हर सात रतिज रोगियो मे से आज, एक रोगी भारत में है।

चिकित्सा की विश्व विख्यात पत्रिका जनरल आफ अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन ने एक अग्र लेख में चौका देने वाले आंकड़े प्रस्तुत कर विश्व के चिकित्सको का आह्वान किया है कि चिकित्सा शिक्षा एवं चिकित्सा पद्धति में समुचित व्यवस्था कर जागरूक हो, इस समस्या से जूझें, ताकि यह बदतर हो, बेकाबू न हो जाये। प्रस्तुत अनुमानित आंकड़ों के अनुसार, प्रतिवर्ष विश्व में 200,000 से 500,000 रोगी जननांग हर्पीज, 200,000 यकृत शोफ-बी (एक प्रकार का पीलिया) के, जिनमें अधिकांश यौन संचारित एक वाइरस के कारण होते है, 30 लाख मरीज ट्रोकोमोनियासिस नामक बीमारी के, 25 लाख सुजाक और 80,000 नये रोगी सिफिलिस के होते हैं।

उपरोक्त आंकड़ों के अनुसार जहां विश्व मे 60 लाख रोगी प्रतिवर्ष रतिज रोगों से पीड़ित होते है, वहां देश के अस्पतालो और रतिज रोग क्लिनिक्स से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार 7 लाख मरीज भारत मे होते है। सन् 1981 में एक लाख सुजाक और 79 हजार मरीज सिफिलिस के अस्पतालो मे और लगभग सात लाख रतिज रोग के रोगियों का इलाज रतिज क्लिनिक्स में किया गया।

अग्रलेख में यह भी बताया गया है कि इन बीमारियों की तीव्रता के समय हुई तकलीफ के अलावा इन रोगों के कुप्रभाव के फलस्वरूप 80 हजार से एक लाख लोग प्रति वर्ष बाँझ और प्रजनन शक्ति विहिन हो जाते हैं। रतिज रोगो का यह पक्ष एक भयानक सत्य है, जिसके इलाज में ही अनुमानित 20 लाख डालर प्रतिवर्ष खर्च होते हैं यानी भारत के 95 लाख रुपये के वार्षिक स्वास्थ्य बजट से करीब दुगुनी रकम।

अमेरिका मे सन् 1960 में शिशु संख्या मे जो अद्भुत वृद्धि हुई थी उसी के फलस्वरूप सन् 1984 मे, 19 से 29 साल के जवान लोगों की अनुमानित संख्या 4 करोड़ 90 लाख होगी, जिसे रतिज रोग वृद्धि का मुख्य कारण माना गया है।

भारत में 1971 में 20 से 29 साल की उम्र के लोग 6 करोड़ 60 लाख थे जो 1983 में बढ़कर 12 करोड़ 10 लाख हो गये है। इस उम्र की वृद्धि दर 39 प्रतिशत, ग्राम जनसंख्या में वृद्धि दर 27 प्रतिशत से कहीं अधिक है। जवान लोगो की संख्या में वृद्धि से देश से रतिज रोगों की संख्या में वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है।

केन्द्रीय स्वास्थ्य आसूचना ब्यूरो द्वारा संकलित आंकड़ों के अनुसार रतिज रोगों की स्थिति देश में सबसे गम्भीर पांडीचेरी में है जहां पहले से ही सबसे अधिक 1976 को आघटन दर 28 प्रति 1000 व्यक्ति से बढ़कर 1980 में 30 हो गई।

महाराष्ट्र में रतिज रोग के बढ़ने का अन्दाजा इससे लगाया जा सकता है 1976 को 2 प्रति 1000 व्यक्ति से बढ़ती हुई 1980 मे 8 प्रति 1000 व्यक्ति हो गई। यहां यह कहना आवश्यक है कि केन्द्रीय सरकार में रतिज रोग सलाहकार डॉ० धर्मपाल के कथनानुसार सौ में से अनुमानित केवल पांच रोगी ही अधिकांश प्रदेशों के अस्पताल में रतिज रोग की चिकित्सा करवाने आते है, शेष प्राइवेट इलाज करवाते है। अतः अस्पतालों से संकलित आंकड़े आंशिक मात्र है जिनसे रोग की प्रवृत्ति प्रतिपालित होती है व्यापकता की गम्भीरता नही।

आन्ध्र प्रदेश में रतिज रोग की आघटन दर 1975 में देश में दूसरे नम्बर पर 5 प्रति 1000 व्यक्ति थी जो अब घटकर 2 8 रह गई है लेकिन फिर भी देश में तीन नम्बर पर है। केरल में भी दर 1·8 से घटकर 0 8 रह गई है।

इसके विपरीत तमिलनाडु और मध्य प्रदेश में रोग में बढ़ोतरी हुई और कर्नाटक में रोग बढ़ा तो नही है लेकिन आघटन दर अब भी 2 प्रति 1000 व्यक्ति हैं।

दुर्भाग्य से आसाम, बिहार, जम्मू-कश्मीर और पश्चिम बंगाल से रतिज रोग सम्बन्धी आंकड़े प्राप्त नही हुए है और उत्तर प्रदेश, देहली आदि के आंकड़े अपूर्ण हैं।

देश में जवान लोगो की उत्तरोत्तर बढ़ती जनसंख्या, तीव्र गति से होता औद्योगिकरण और नैतिक अवमूल्यन, को ध्यान में रखकर यह अति आवश्यक है कि उचित और सार्थक कदम शीघ्र ही उठाये जायें, अन्यथा यह गम्भीर समस्या एक भयानक रूप ले लेगी।

स्वास्थ्य विशेषज्ञों के सुझाव के अनुसार छात्रों की शिक्षा में रतिज रोग पर अधिक समय निर्धारित होना चाहिये, चिकित्सा सेवाओं में इन रोगो के लिए अधिक प्रावधान होना चाहिए, चिकित्सकों की रतिज रोगों के प्रति अधिक ध्यान देने को आगाह किया जाना चाहिए और जनसाधारण में जागरूकता बढ़ाने के कारगर प्रयत्न किये जाने चाहिए।

धनुष्टंकार

धनुष्टंकार या टिटनेस देश की सर्वाधिक घातक बीमारियों में द्वितीय है, प्रथम स्थान तपेदिक का है। केंद्रीय स्वास्थ्य महानिदेशक द्वारा प्रकाशित 1973 से 1979 के संकलित आंकड़ों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि भारत में प्रतिवर्ष औसतन धनुष्टंकार से पीड़ित 56390 रोगी देश के विभिन्न अस्पतालों में भरती होते हैं और हर दस मरीजों में से एक में यह बीमारी प्राणघातक सिद्ध होती है। सबसे अधिक रोगी, 127485 सन् 1975 में भरती हुए और रोग से सर्वाधिक मृत्यु 17500 सन् 1976 में हुई। स्थिति की गंभीरता इस तथ्य से प्रतिलक्षित होती है कि ब्रिटेन में साल में मात्र 350 रोगी और अमेरिका में 450 रोगी टिटनेस के शिकार होते हैं।

धनुष्टंकार 'बेसिलाई' नामक रोगाणुओं से होती है। सूक्ष्मदर्शी यंत्र के नीचे यह रोगाणु झुनझुने के आकार के दिखते हैं। एक गोलाकार सिर और छोटी दंडिका वाले कठोर आवरणयुक्त इन रोगाणुओं के बीजाणु घोड़े की लीद और अन्य जानवरों के मल के द्वारा मिट्टी में पहुंचते हैं। इसलिए ऐसी मिट्टी जिसमें जानवरों के मल की बहुतायत हो जैसे खादयुक्त खेत की मिट्टी में यह बीजाणु प्रचुर संख्या में होते हैं। चोट लगने पर मिट्टी के साथ यह बीजाणु घाव में पहुंचते हैं।

धनुष्टंकार रोगाणुओं की यह विशेषता होती है कि प्राणवायु ऑक्सीजन को सहन नहीं कर सकते। बीजाणुओं से रोगाणु बनने और विभाजन द्वारा संख्या में प्रगति की प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक है कि वहां ऑक्सीजन न हो। अतः घाव में पहुंचे अन्य ऑक्सीजन सेवी रोगाणु जब घाव की ऑक्सीजन समाप्त कर देते हैं तभी धनुष्टंकार रोगाणु सक्रिय हो पाते हैं। खुले घाव में वातावरण में स्थित ऑक्सीजन के कारण यह संभव नहीं होता। अतः घाव को किसी बंद कोटरिका (पाकेट) अथवा कील, कांटा चुभे बन्द घाव में इन रोगाणुओं को अनुकूल स्थिति प्राप्त होती है। ऑक्सीजन विहीन स्थिति में सक्रिय हो यह रोगाणु एक विष का सृजन करते हैं जिसे टेटनोस्पाजमिन कहते हैं। यह विष सुषुम्ना की उन प्रेरक (मोटर) कोशिकाओं से चिपक जाता है जिनसे मांसपेशियों का संचालन होता है। साथ ही यह पेशी-तंत्रिका संगम (न्यूरो मस्क्यूलर जंक्शन) पर चिपक कर उन्हें उद्दीपक अथवा उत्तेजित कर कार्य करता है।

रक्त में प्रवाहित विष को निष्क्रिय करने की औषधि हमारे पास है लेकिन सुषुम्ना की तन्त्रिका कोशिकाओं और पेशी-तन्त्रिका संगम पर स्थापित टैटनोस्पाजमिन विष को निष्क्रिय करने की औषधि चिकित्सा में उपलब्ध नहीं है।

फलस्वरूप पेशी तन्त्रिका पथ द्वारा संचालित अनियंत्रित उद्वेलन से मांस-पेशियां संकुचित हो ऐंठ जाती हैं। चेहरे की पेशियों के ऐंठन से ओंठ फैल जाते है,

जबड़ा भिच जाता है और गर्दन मस्त हो पीछे की ओर मुड़ जाती है । रह-रहकर दर्दनाक धनुष्टंकार आक्षेप होते हैं जिसमें मेरुदंड पर काम करने वाली पेशियों के तीव्र संयुक्त संकुचन से रोगी धनुष की तरह दोहरा हो जाता है । क्रमशः शरीर की अन्य पेशियों पर प्रभाव होता है और स्वर यंत्र व श्वास नली की पेशियों के आक्षेप में दम घुटने पर, रोगी मर जाता है । मौत की भयानकता को देखे विना अनुमान करना असंभव है ।

इस घातक बीमारी से मरने वाले अधिकांश लोग नेतीहर जवान और अस्वास्थ्यकर स्थिति में प्रसव करने वाली महिलाएं होती हैं ।

विडम्बना यह है कि धनुष्टंकार एक निवारण साध्य रोग है, जिसके निवारण हेतु उपयुक्त टीके देश मे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं और इस कार्य को करने के लिए चिकित्सा व्यवस्था सर्वथा सक्षम भी है । फिर भी स्वतन्त्रता के 42 साल बाद और चिकित्सा सेवाओ की इतनी प्रगति के बावजूद आज देश में 50 हजार लोगों को हर साल धनुष्टकार की भयानक बीमारी होती है और पांच हजार से अधिक लोग इस दर्दनाक मौत के शिकार होते हैं ।

कारण, निवारण और उपचार का अभाव नहीं, जन साधारण की अज्ञानता और व्यवस्था की अवज्ञा है । मात्र जागरूकता उत्पन्न करने की आवश्यकता है । टीकों द्वारा जब चेचक जैसा भयानक रोग का उन्मूलन संभव हो सकता है तो धनुष्टंकार की व्यापक रोकथाम भी की जा सकती है ।

चिकित्सा सेवाओं ने यह कार्य अब तेजी से अपने हाथ मे लिया है । प्रसव से पूर्व अब हर गर्भवती महिला को इसके टीके लगाये जाते हैं ताकि जच्चा और नवजात शिशु की धनुष्टंकार से रक्षा हो सके । जनसाधारण मे टीके लगाने का कार्य भी अब व्यापक रूप से शुरू किया गया है । अन्य टीकों के साथ मिलाकर (डिप्थीरिया, कुक्कर खासी और टिटनेस) अथवा अलग से यह टीके अब बच्चों मे लगाये जाते है ।

रोगक्षमीकरण हेतु छः सप्ताह और छः माह पर लगाये गये तीन टीकों से लम्बे समय के लिए धनुष्टंकार से प्रतिरक्षा की क्षमता प्राप्त की जा सकती है । दस साल में मात्र एक बार टीका फिर लगवाने से पूरे जीवन इस रोग से मुक्ति मिल जाती है । सफलता केवल इस पर निर्भर करती है कि प्रशासन व्यवस्था गाव के अशिक्षित लोगों में इसके प्रति कितनी व्यापक जागरुकता उत्पन्न कर सकती है ।

यकृत शोथ-बी

हेपेटाईटिस-बी (यकृत शोथ-बी) के विश्वव्यापी प्रसार और उसके घातक परिणामों से विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा अन्य स्वास्थ्य संस्थाएं चिंतित हैं । जयपुर के

संतोकबा दुर्लभजी चिकित्सालय एवं अनुसंधान केन्द्र में किये गए सर्वेक्षण से जो आंकड़े सामने आए है उससे यह साफ है कि स्वास्थ्य सेवाएं एवं जन-साधारण इसके प्रति जागरूक हों । अगर इसके बढ़ते प्रसार पर रोक नहीं लगाते हैं तो निकट भविष्य में यह समस्या भयानक रूप लेकर जन-जीवन के लिए खतरे की पराकाष्ठा होगी ।

हेपेटाईटिस (पीलिया) ए, बी, नोन ए नोन बी

विषाणु (वायरस) जनित यकृत शोथ (हेपेटाईटिस) जिससे पीलिया रोग होता है । लेकिन यह तथ्य सर्वसाधारण की जानकारी में नहीं है कि यह हेपेटाईटिस (पीलिया) दो तरह का होता है । एक हेपेटाईटिस-ए, जिसके विषाणुओं का प्रसार मल-मूत्र-मार्ग के जरिए होता है और दूसरे हेपेटाईटिस-बी, जिसके विषाणुओं का प्रसार रक्त के जरिए होता है । तीसरा नोन ए नोन बी जिन विषाणुओं की अभी पहचान नहीं हुई है ।

हेपेटाईटिस-बी अधिक खतरनाक

दोनों में से हेपेटाईटिस-बी अनेक कारणों से अधिक खतरनाक होता है । प्रथम, ए के बनिस्पत 'बी' का होना अधिक लोगों में घातक होता है । द्वितीय, जो लोग बच जाते हैं उनमें से अनेक के यकृत में इतना अधिक नुकसान हो जाता है कि समयोपरांत उसमें सिरोसिस होने तथा लीवर के काम करना बन्द करने पर मृत्यु तक हो जाती है । तृतीय, जिन लोगों में हेपेटाईटिस-बी वायरस जनित सिरोसिस होती है उन हर पांच रोगियों में से एक को लीवर का कैंसर होता है जो बहुत ही घातक तथा कष्टकारी होता है ।

हेपेटाईटिस-बी और कैंसर

विश्वसंगठन के संकलित आंकड़ों के अनुसार लीवर कैंसर की दर हेपेटाईटिस-बी वायरस के प्रचलन के सीधे अनुपात में बढ़ती है । दक्षिण पूर्व एशिया में जहां हेपेटाईटिस-बी की व्यापकता की दर अत्यधिक है वहीं इससे होने वाला लीवर कैंसर भी यहां के सभी कैंसरों में प्रमुख कैंसर है । चूंकि यह कैंसर वायरस जनित है अतः यह उन कुछ कैंसरों में से एक है जिसका होना, वायरस का प्रसार रोककर, सफलता से रोका जा सकता है । विश्व संगठन के विशेषज्ञों की एक टोली ने अपनी रिपोर्ट में इसका आह्वान किया है ।

हेपेटाईटिस-बी के अन्य गम्भीर पहलू

हेपेटाईटिस-बी वायरस के कुछ और भी गम्भीर पहलू है । जहां हेपेटाईटिस-ए रोगी से संक्रमण केवल कुछ दिनों तक ही सम्भव है और वह भी अस्वच्छता की स्थिति के कारण, हेपेटाईटिस-बी वायरस के अनेक रोगियों के शरीर में यह विषाणु सदा के लिए घर कर लेते हैं जिससे सारे जीवन उनसे संक्रमण की आशंका बनी रहती है । यह अवस्था अनेक ऐसे लोगों में भी पाई जाती है जिनमें विषाणुओं के

शरीर में प्रवेश के उपरांत न पीलिया हुआ और न ही कोई अन्य लक्षण प्रतिलक्षित हुई। ऐसे विषाणु वाहक (कैरियर) लोग सर्वथा स्वस्थ होते है।

जयपुर में सर्वेक्षण

संतोकबा दुर्लभजी चिकित्सालय एवं अनुसंधान केन्द्र के सर्वेक्षण में यह पाया गया है कि वहां आने वाले वर्ग मे सर्वथा स्वस्थ लोगो में हर 100 व्यक्तियों में से 3 के रक्त में हेपेटाईटिस-बी विषाणु प्रचुर मात्रा मे मौजूद थे। अस्पतालो में आने वाले रोगियों और कुछ सामाजिक स्तर के लोगो मे इसकी अनुमानित व्यापकता दर कहीं अधिक आकी जाती है।

रक्त की अति सूक्ष्म मात्रा से संक्रमण (इन्फेक्शन)

इन विषाणुओं के संक्रमण की शक्ति इतनी तीव्र होती है कि जिनके रक्त में विषाणु है उनके रक्त की एक बूंद के हजारवें भाग को भी अगर किसी के शरीर में प्रवेश करा दिया जाय तो पीलिया के साथ इन्फेक्टिव हेपेटाईटिस-बी हो सकती है। अगर रक्त की बूंद का एक लाखवां भाग भी अन्दर प्रवेश कर जाये तो पीलिया न होने पर भी, रक्त परीक्षण करने पर उनके शरीर मे विषाणुओं के होने के प्रमाण मिल जायेंगे।

यह विषाणु बड़े जीवट वाले होने से आसानी से मरते नही है। सामान्यतया काम में आने वाले रोगाणुनाशक उपायों का इन पर असर नही होता। इनको नष्ट करने के लिए विशेष तौर-तरीकों की आवश्यकता होती है।

सुई की नोंक से विषाणु प्रसार

विषाणु वाहक व्यक्ति के शरीर में चुभाई गई सुई की नोंक पर ही रक्त की इतनी मात्रा होती है कि अगर वह अन्य किसी के चुभाई जाये तो उसे रोग हो सकता है। कहने की आवश्यकता नही कि ऐसे व्यक्ति का रक्त किसी को दिया जाना तो खतरे को खुद निमन्त्रण देना है। इसी कारण हर अच्छे रक्त बैंक मे आज प्रत्येक रक्त को देने से पहले हेपेटाईटिस-बी विषाणुओं के लिए परीक्षण होता है और उसके पाये जाने पर रक्त को नष्ट कर दिया जाता है। यही कारण है कि रक्त देकर पैसे कमाने वाले भिखारी आदि से रक्त नही लिया जाता—उनमे अधिकांश मे यह विषाणु अथवा अन्य रोगाणुओं का होना पाया जाता है।

खटमलों से प्रसार

रक्त की इतनी कम मात्रा मे संक्रमण होने के कारण विश्व स्वास्थ्य संगठन के विशेषज्ञों की मान्यता है कि यह गम्भीर रोग खटमलो से फैल सकता है। हमारे सार्वजनिक अस्पतालों में खटमलों की भरमार है। एक समाचार के अनुसार तो अस्पतालों में खटमल इतने अधिक हैं कि रक्त बैंकों की अपेक्षा वे अधिक रक्त स्थाना-

न्तरण करते हैं। सम्भावना यह है कि अस्पताल के जिस विस्तर पर हेपेटाईटिस-बी विपाणु वाहक रोगी भरती हुआ, उस विस्तर पर उसके बाद भरती होने वाले रोगी को हेपेटाईटिस-बी होने की आशंका होगी। हां, यह अवश्य है कि इसके उपरान्त बीमारी के लक्षण चूंकि कई महीनों बाद परिलक्षित होते है अतः इसका कारण न समझ में आये और इसे अस्पताल के खटमलों से न जोड़ा जाये।

संभोग से संक्रमण

हेपेटाईटिस-बी विपाणु रक्त के अतिरिक्त लैंगिक सम्बन्धो एवं चुम्बन के जरिये भी प्रसारित होते हैं। यही कारण है कि इनकी व्यापकता वैश्याओं मे अत्यधिक पाई जाती है। वैश्यागमन एवं उदार लैंगिक सम्बन्धो के कारण हेपेटाईटिस-बी संक्रमण आज विश्व में रतिज रोगों में एक प्रमुख रोग हो गया है।

रोकथाम की जरूरत

हेपेटाईटिस-बी की व्यापकता, सर्वेक्षण मे पाई गई 3 प्रतिशत दर से कही अधिक अनुमानित है, क्योंकि इस सर्वेक्षण का आधार केवल स्वस्थ लोग थे। देश के हर भाग में इस रोग के विपाणुओ की व्यापकता दर सर्वेक्षण से प्राप्त आंकड़ों से अधिक होगी। अगर हेपेटाईटिस-बी विपाणुओ के प्रसार के रोकथाम के समुचित प्रयास नही किए गये तो इस गुलाबी नगर और देश के अन्य भागों में उत्तरोत्तर बढ़ते हेपेटाईटिस-बी वायरस की व्यापकता के फलस्वरूप निकट भविष्य में ही पीलिया, सिरोसिस और लिवर कैंसर घातक रूप में प्रतिलक्षित होंगे।

पोलियो

भारत में बहुव्यापी पोलियो से प्रति वर्ष हजारो बच्चे विकलाग हो जाते है और सैकड़ों आकस्मिक मृत्यु का शिकार हो जाते है। भारत मे ही नही, पिछड़े और विकासशील देशों में इस पर सफलतापूर्वक काबू पा लिया है, और वहां के बालक अब पोलियो से मुक्त है।

इस सफलता का मुख्य कारण है, जनजीवन में स्वच्छता का प्रयोग, और जन स्वास्थ्य व्यवस्था द्वारा मल विसर्जन और पेयजल का सुचारु प्रबन्ध। पोलियो के वायरस (विपाणु) मल द्वारा प्रसारित होते है। अतः इस बीमारी के सर्वथा उन्मूलन के लिये मल विसर्जन की सार्थक प्रणाली का होना आवश्यक है। जब तक खुले टट्टी-पेशाब करने की आम आदत खत्म नही होगी, देश के हजारों बच्चे इसी प्रकार विकलांग होते रहेंगे और सैकड़ों माता-पिता अपने बच्चों की अकाल मृत्यु पर मातम मनाते रहेंगे, या उनकी विकलागता की यातना जीवन भर ढोते रहेंगे।

एक अन्य सरल उपाय है पोलियो के टीके। इस टीके की खास बात यह है कि इसे इन्जैक्शन द्वारा लगाने की आवश्यकता नहीं। अतः इसे देने के लिये न किसी साज-सामान की जरूरत होती है और न किसी विशेष स्वास्थ्य कर्मचारी की।

ब्राजील का प्रयोग

राजनीतिक संकल्प से जन-जागरण पैदा कर पोलियो के टीके द्वारा कैसे देश को इस घातक बीमारी से मुक्त कराया जा सकता है, उसका जीवित उदाहरण है ब्राजील का प्रयोग। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने एक विशेष विज्ञप्ति द्वारा ब्राजील के पोलियो प्रयोग का विवरण प्रसारित कर यह आशा व्यक्त की है कि ब्राजील के टीके लगाने का प्रयोग का अगर सभी विकासशील देश अनुसरण करें, तो विश्व में प्रतिवर्ष पोलियो से 50,000 बच्चे मरने से व 5,00,000 विकलांग होने से बच जायेंगे।

इस प्रयोग से पहले ब्राजील में 1978 में पोलियो से 2,584 बच्चे अकाल मृत्यु को प्राप्त हुये थे, टीके लगाने के प्रयोग के बाद 1983 में यह संख्या घटकर मात्र 10 रह गयी थी।

सन् 1980 में ब्राजील सरकार ने एक कल्पनाशील सामूहिक टीके लगाने की योजना बनाई। योजना के नायक स्वयं वहां के राष्ट्रपति थे, और संयोजक सरकार के सभी मंत्रालय।

ब्राजील में सभी बच्चों को केवल एक दिन में टीके की दवा पिलानी थी। छः सप्ताह के अन्तराल पर मात्र दो खुराक एक वर्ष में पिलानी थी। सर्दियों के सबसे अधिक ठंड वाले दो महीनों के दो शनिवार इसके लिये चुने गये। ठंड के दिन इसलिये कि दूर-दराज गांवों में वितरण में पोलियो वेक्सीन खराब न हो। गर्मी से यह प्रभावहीन हो जाती है।

व्यापक प्रचार तंत्र

एक ही दिन टीके लगाने की देशव्यापी पर्याप्त व्यवस्था की गई। सारे देश में 90,000 टीके लगाने वाले केन्द्र स्थापित किये गये हैं। स्वास्थ्य कर्मचारियों के अलावा 3,20,000 स्वयंसेवक इन केन्द्रों पर कार्य करने को नियुक्त किये गये।

निर्धारित राष्ट्रीय टीका दिवस से पूर्व टेलीविजन, रेडियो केन्द्रों से 30 सैकिण्ड का टीका संदेश हर रोज 20 बार प्रसारित किया गया है। हर अखबार और पत्रिका ने संदेश को प्रकाशित किया। गांव और कस्बों में लाउडस्पीकर द्वारा घूम-घूम कर जनता को यह संदेश पहुंचाया गया। हर माता-पिता और अभिभावक को आगाह किया गया कि वह बच्चों को लेकर निर्धारित दिन निकटतम टीका केन्द्र में अवश्य पहुंचे।

कार्यक्रम को अपूर्व सफलता मिली। 1980 मे मात्र दो दिन में एक करोड़ 80 लाख बच्चों को पोलियो के टीके की दवा पिलायी गयी। आगामी हर वर्ष में उस कार्यक्रम की पुनरावृत्ति के फलस्वरूप मात्र तीन वर्षों में ब्राजील ने जो उपलब्धि हासिल की, वह विश्व के देशो के लिये अनुकरणीय उदाहरण है। मात्र तीन वर्षों में पोलियो जैसी घातक और व्यापक बीमारी का सफल उन्मूलन सचमुच एक बेजोड़ प्रयास और प्रयोग है, जो बताता है कि अगर सत्ताधारी संकल्प करें तो विकासशील देशों के सीमित साधनों से बहुत कुछ संभव है।

एशियाई खेल जैसे व्यापक और तकनीकी रूप से अति जटिल आयोजन का सफल संयोजन इस बात का द्योतक है कि हमारी शासन व्यवस्था के लिये ब्राजील जैसे पोलियो टीका लगाने के राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का अनुसरण करना कोई कठिन काम नहीं।

बाल सिरोसिस

"बाल सिरोसिस" भारत के बालकों में होने वाली यकृत (जिगर) की एक विशेष बीमारी है। देश में हर साल हजारों बच्चों में यह प्राणघातक रोग होता है।

हल्के बेतरतीव बुखार और चिड़चिड़ेपन से शुरू होकर, बाल्यावस्था के पहले तीन वर्षों में ही बच्चों का पेट क्रमशः जलोदर (पेट में पानी) से फूल कर मटके जैसा हो जाता है, हाथ-पांव सूख जाते है और अन्ततः उत्तरोत्तर बढ़ते पीलिया से अकाल मृत्यु हो जाती है।

करीब सौ साल से ज्ञात इस बीमारी का कारण काफी अनुसंधान के उपरांत भी अभी तक ज्ञात नही था और न ही कोई उपचार सार्थक हो पाया। कुछ विशेषज्ञ इसे अनुवांशिक मानते थे, कुछ वायसराय जनित यकृत शोथ और कुछ विशेषज्ञ इस रोग का कारण भोजन में एक विशेष प्रकार के विषैले तत्व "एफ्लोटोक्सीन" को मानते थे लेकिन यह सभी कारण वैज्ञानिक अनुमान मात्र थे, जिनकी सत्यता सिद्ध नहीं हुई।

नये शोध परिणाम

हाल ही मे प्रकाशित शोध परिणामो से ऐसा लगता है कि इसका कारण ज्ञात हो गया है और अब इस बीमारी से बच्चों को बचाया जा सकता है। इस विषय में पहली जानकारी विकृति विज्ञान के विशेषज्ञो के अनुसंधान से मिली जिन्होंने आधुनिक उपकरणों का उपयोग कर यह सिद्ध किया कि इस रोग से मरने वाले बच्चों में यकृत के अत्यधिक मात्रा मे तांबा जमा हो जाता है। जमा होने वाले तांबे

से यकृत की कोशिकायें उत्तरोत्तर नष्ट होती जाती हैं और उनका स्थान बेजान तंतु ले लेते हैं। यकृत की कोशिकाओं के नष्ट होने से उनकी कार्यक्षमता क्षीण होती जाती है, पीलिया हो जाता है और ततुमयता से उत्पन्न यकृत में रक्त प्रवाह में बाधा के फलस्वरूप आंतों और पेट की शिरायें फूल जाती हैं और उनसे रिसता तरल पेट में इकट्ठा होकर जलोदर पैदा करता है।

यकृत में तांबा इकट्ठा होने की जानकारी के बाद शोधकर्ताओं ने खोजना शुरू किया कि तांबा कहा से आता है, और यकृत में क्यों जमा होता है ? क्या यह जमावट किसी आंतरिक रसायनिक क्रिया की विकृति का परिणाम है ? यकृत का ऐसा ही एक अन्य रोग है—'विल्सन डिजीज' । इसमें भी तांबा जमा होता है, लेकिन इसमें पाई जाने वाली अनुवांशिकीय रसायनिक विकृति, बाल सिरोसिस में नहीं होती।

स्वाभाविक था कि शोधकर्ताओ का ध्यान रोगियों के खाने-पीने की ओर जाता है। पुणे के शोधकर्ताओ की एक टोली ने इंग्लैंड के एक विशेषज्ञ के सहयोग से कार्य शुरू किया। अब चूंकि इस बीमारी की शुरुआत दूध पीते बच्चों में ही हो जाती है, अत. दूध का विश्लेषण कर उससे तांबे की मात्रा मापी गयी।

इस बीमारी की कुछ विशेषतायें यह है कि यह गरीबों में नहीं वरन् मध्यम वर्गीय परिवारों मे होती है, जिस परिवारों मे यह होती है उसमें एक से अधिक बच्चों मे होती है, यह लडको में अधिक व लड़कियो मे कम होती है। लड़कों मे भी पहले लड़के के या दो-तीन बहिनो के बाद हुये भाई में अधिक होती है। दक्षिण भारत के ब्राह्मण परिवार, मध्य भारत के वणिक, उत्तर भारत के वणिक व जाट और उत्तर के पर्वतीय प्रदेशो में राजपूत परिवारों में बाल सिरोसिस अधिकांश रूप से पाई जाती है।

शोधकर्ताओं ने बाल सिरोसिस वाले परिवारो के एक समूह और उसी स्तर के अन्य सजातीय एवं विजातीय परिवारों में बच्चों को पिलाये जाने वाले दूध का विश्लेषण तांबे की मात्रा के लिये किया। हर समूह के परिवारों से प्राप्त मां का दूध और बच्चों को दिये जाने वाले गाय और भैंस का दूध का विश्लेषण किया गया।

पीतल-पात्रों में दूध उबालना घातक

शोध के परिणाम से पहला तथ्य जो सामने आया वह यह था कि जिन परिवारों में बिना कलई किये हुये पीतल के बर्तनों का दूध उबालने और रखने के लिये प्रयोग होता था, वहां से प्राप्त दूध के नमूनों में तांबे की मात्रा मां के दूध से आठ से बीस गुना अधिक थी। लेकिन पीतल के बर्तनों का उपयोग उन सजातीय परिवारों मे भी होता था जिनमे बाल सिरोसिस रोग नही था। हां, इस वर्ग के

मुसलमान परिवारों में न तो पीतल के बर्तन उपयोग में आते थे और न ही उनमें बाल सिरोसिस होती थी, फिर अगर दूध में तांबे की अत्यधिक मात्रा इसका कारण थी तो यह जानकारी भी आवश्यक थी कि जिन परिवारों में यह रोग होता है उनमे से कुछ बच्चों में ही क्यों होता है, बाकी मे क्यों नही ?

परिवारो में बच्चों को पिलाये जाने वाले दूध की मात्रा तथा इसमें कितना मां का दूध और कितना ऊपर का दूध दिया जाता है, आदि तथ्यों के विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि जिन बच्चों मे बाल सिरोसिस हुई, उन्हें उनकी मां ने अपना दूध पिलाना या तो बहुत जल्दी छोड़ दिया था या शुरू से ही बहुत कम पिलाया था और अधिक अनुपात में पीतल के बर्तनों में उबाला हुआ ऊपर का दूध पिलाया गया था।

बाल सिरोसिस, बच्चो को कम उम्र में मां के दूध की जगह बिना कलई किये पीतल के बर्तनो में उबाले दूध देने से होती है। शोधकर्ताओं का मत है कि परिवार के अन्य बच्चों को इस रोग से बचाने के लिये यह युक्तिसंगत एवं आवश्यक है कि उन्हें पीतल के बर्तनों में उबाला दूध न दिया जाये। साथ ही जब तक संभव हो तब तक तो बच्चों को मां अपना ही दूध पिलाये।

दवाओं का दुरुपयोग •

क्लोरोमाईसीटीन

क्लोरोमफेनीकोल या क्लोरोमाईसीटीन नामक अतिशक्तिशाली एन्टीबायोटिक का अंधाधुंध प्रयोग कितना घातक होता है यह तथ्य चौंकाने वाले है ।

जयपुर के संतोकबा दुलभजी अस्पताल में हाल ही में एप्लास्टिक एनीमिया के चार मरीज भरती हुए और जे. के. लोन अस्पताल में एक सप्ताह में दो । एप्लास्टिक एनीमिया में खून का पानी हो जाता है । दवाओं के कुप्रभाव से रक्त बनाने वाली अस्थि-मज्जा अपना कार्य करना बन्द कर देती है । लाल रक्त कणों के न बनने से एनीमिया (अरक्तता) उत्पन्न हो जाती है, चेहरा जर्द और पीला हो जाता है, अत्यधिक कमजोरी आ जाता है, चलने फिरने पर सांस फूलने लगती है । श्वेत रक्त कणों के न बनने से शरीर की रक्षा पंक्ति बिखर जाती है और बड़ी आसानी से कोई भी रोगाणु शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और हर प्रकार के गम्भीर संक्रमण रोग पैदा हो जाते है, जिनका आम लक्षण ज्वर होता है । प्लेटलेटस (रक्त बिंबाणु) जो खून जमने के लिए आवश्यक होते हैं, उनके न बनने से शरीर मे कही से भी घातक रक्त स्राव जैसे नकसीर, मसूड़ों से रक्त-प्रवाह, खून के दस्त आदि हो जाते है । इन 6 मरीजो में से पांच बच्चे है । इनमें से दो की मृत्यु हो चुकी है, एक को गम्भीर अवस्था में बम्बई ले गए है, एक को किसी भी दवा का असर न होने और हालत बिगड़ती देखकर अभिभावक मजबूरन अस्पताल से ले गए हैं, बाकी दो अभी अस्पताल में भरती है लेकिन गम्भीर अवस्था मे । खून की बोतल चढ़ने और हर संभव दवा देने के बावजूद भी उनकी रक्त मज्जा अपना कार्य वापस नही कर रही है ।

एप्लास्टिक एनीमिया का कारण होता है कुछ रक्त दवाओं का रक्त मज्जा पर विपाक्त कुप्रभाव । चिकित्सा विज्ञान के अनुसार हर एप्लास्टिक एनीमिया को दवाओं के कुप्रभाव के कारण माना जाना चाहिये, जब तक कि पूर्ण परीक्षा एवं पूछ-ताछ के बाद उसका अन्य कारण ज्ञात न हो । जिन दवाओं के कुप्रभाव से एप्लास्टिक एनीमिया होता है उनमें क्लोरोमाईसीटीन मुख्य है । अन्य आम दवाएं है फिनाईल बूटाजोन नामक दर्दनाशक दवाई ।

क्लोरोमाईसीटीन व अन्य दवाओं के कुप्रभाव में एक खास फर्क यह है कि अन्य दवाइयों का कुप्रभाव, अत्यधिक मात्रा में सेवन करने से होता है जबकि क्लोरोमाईसीटीन का कुप्रभाव कम खुराक से ही हो जाता है। क्लोरोमाईसीटीन द्वारा एप्लास्टिक एनीमिया अधिकतर व्यक्तिगत असहिष्णुता के कारण होता है जिसे हाईपरसेन्सेटिव रिएक्शन या अतिसुग्राहिता कहते है।

संतोकबा दुर्लभजी अस्पताल मे चार मरीजों में से तीन को क्लोरोमाईसीटीन की विभिन्न दवाएं दी गई थी। अन्य अस्पताल के मरीजों के बारे में मृत्यु के कारण की पूर्ण जानकारी नही मिल सकी।

क्लोरोमाईसीटीन बहुत ही शक्तिशाली एवं कारगर रोगाणु नाशक दवा है। इसका प्रचलन टाईफाइड (मियादी बुखार) मे अचूक जीवन रक्षक दवा के रूप में शुरु हुआ, कारण तब इस बीमारी के रोगाणुओ के खिलाफ अन्य कोई औषधि नहीं थी। लेकिन यह अन्य अनेक रोगाणुओं के खिलाफ भी उतनी ही प्रभावशाली है अतः इसका प्रयोग विभिन्न प्रकार के संक्रामक रोगों मे होने लगा है। रोगाणु कोई भी हो, यह असर तो करेगी ही, अतः चिकित्सक इसका प्रयोग बिना विचार किए और सोचे समझे करते हैं और इसके घातक कुप्रभाव के बारे मे नही सोचते। अन्य औषधियों के मुकाबले काफी सस्ती होने के कारण गरीब तबके के लोगों मे तो इसका प्रयोग अन्धाधुंध होता है।

क्यो करते है चिकित्सक ऐसा जबकि क्लोरोमाईसीटीन एन्टीबायोटिक देने के लिए उनकी शिक्षा निम्न प्रकार है—

यह दवा ऐसे किसी रोगी को नही दी जानी चाहिये जिसका पुख्ता निदान नही हो गया हो। पुख्ता निदान का एक आवश्यक अंग है रोगाणुओं की पहचान और उन पर क्लोरोमाईसीटीन व अन्य एन्टीबायोटिक्स का प्रभाव परीक्षण।

केवल लक्षणों के आधार पर यह दवा नही दी जानी चाहिये।

जिस रोग या संक्रमण का अन्य किसी दवा से इलाज संभव हो उसमे यह दवा नही दी जानी चाहिये।

यह दावा बार-बार देना खतरनाक है।

यह दवा केवल अस्पताल मे भरती रोगियों को ही दी जानी चाहिये।

जिसे दवा दी जाए उसकी हर 48 घण्टे में एक बार रक्त परीक्षा अवश्य होनी चाहिये।

रक्त परीक्षण पर दवा के विषाक्त असर के पहली बार प्रकट होते ही दवा बन्द कर देनी चाहिये।

केन्द्रीय स्वास्थ्य ग्रासूचना ब्यूरो द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार देश के अस्पतालों में प्रतिवर्ष 3 लाख 25 हजार टाईफाईड के मरीज भरती होते हैं। अन्य जो अस्पताल नही आते उनको आंकड़ों में शामिल करने के लिए अगर इसे दस गुना करलें तो अनुमानित तीस लाख मरीज टाईफाईड के होते है जब कि देश में प्रतिवर्ष उपलब्ध क्लोरोमाईसीटीन की मात्रा एक करोड रोगियों के इलाज के लिए पर्याप्त है। जाहिर है इसका कितना व्यापक दुरुपयोग हो रहा है।

इंडियन फार्मास्यूटिकल गाइड मे प्रकाशित सूची के अनुसार क्लोरोमफेनीकोल यानी क्लोरोमाईसीटीन, देश की विभिन्न कम्पनियां 210 अलग-अलग नामों से बाजार मे बेचती है। इसके अतिरिक्त 49 अन्य नामों से यह किसी दूसरी दवा के साथ संयुक्त रूप से बिकती है।

क्लोरोमाईसीटीन के घातक कुप्रभाव के कारण चिकित्सकों से यह आशा की जाती है कि वे इस दवा का प्रयोग खूब सावधानी के साथ करेंगे और केवल उन्ही अवस्थाओं मे करेंगे जहा अन्य कोई दवा उस मर्ज के लिए सार्थक न हो।

ध्यान रहे कि अब टाईफाईड के लिए भी क्लोरोमासीईटीन की अपेक्षा अधिक सुरक्षित दवाएं जैसे एम्पीसिलिन, एमोक्सिलिन, सेप्ट्रान आदि उपलब्ध हैं। जो चिकित्सक अपने रोगियो की हर 48 घंटे मे एक बार रक्त परीक्षा नही करवा सकते, उन्हें क्लोरोमाईसीटीन काम मे नही लेनी चाहिये। या तो अन्य दवा प्रयोग मे लेनी चाहिये या फिर मरीज को किसी अस्पताल मे भेज देना चाहिये।

स्टीरोइड

सात वर्षीय सुरेन्द्र अपने माँ-बाप की अकेली सतान है। विवाह के सात वर्ष बाद होने के कारण और भी अधिक प्यारा। देखने में सुन्दर और स्वस्थ। लेकिन यह दुर्भाग्य है कि वह अपनी आँखो की ज्योति खो चुका है। बांयी आख की पूरी और दायें में काफी। उसके पिता जो आयुर्वेद विभाग मे कार्यरत है, को दुख इस बात का है कि बच्चे की आंखो की ज्योति बीमारी से नही, इलाज से गयी है। बच्चे की आखो मे खुजली चलती थी, पानी गिरता था, आंखें लाल हो जाती थी। डाक्टर को दिखाया, एलर्जिक कन्जक्टिवाइटिस थी। आखो में डालने की दवा लिख दी, जिसमें कोर्टिकोस्टेरोइड और क्लोरोमाईसीटीन दोनों औषधियां थी। दवा से बड़ा आराम मिला। लेकिन जब भी दवा बन्द की जाती आंखो में खुजली और पानी गिरना फिर चालू हो जाता। आंखों को जैसे दवा की लत पड़ गयी थी। फलवस्रूप लगभग तीन साल तक वही दवा बराबर चलती रही। कुछ दिनो, एक डाक्टर ने नाम बदल कर दूसरी कम्पनी की दवा लिख दी, लेकिन उसमे भी वही दोनों दवायें थी।

किसी ने बच्चे के माँ-बाप को यह नही बताया कि यह दवा लम्बे अर्से तक आंखों में डालने से नुकसान हो सकता है। और तो और जब बच्चे को आंखों से दिखने में असुविधा होने लगी तो उसे भी मुख्य बीमारी का ही लक्षण माना गया और दवा चालू रही ।

फलस्वरूप दोनों आंखो में ग्लोकोमा, जिसे काला पानी कहते है, हो गया। बाई आँख सर्वथा जाती रही और दाई आंख में बहुत कम रोशनी रह गयी। और यह सब हुआ केवल इसलिये कि क्लोरोमाईसीटीन और कोर्टिकोस्टरोइड की यह संयुक्त दवा काफी लम्बे अर्से तक उपयोग मे लाई गयी।

सात साल की नाजुक उम्र और लम्बा अन्धकारमय जीवन। इस मासूम को अन्धा बनाने के लिए कौन उत्तरदायी है ? क्या दवा बनाने वाली कम्पनियो का जो, इन दवाओं से करोड़ों रुपये कमाती है, कोई दायित्व नही ? क्या डाक्टर का दायित्व दवा लिखने तक ही सीमित है ?

विडम्बना यह है कि उपरोक्त केस ऐसा अकेला नही है जिसमें अनजाने कारण रोगी को दवा से नुकसान हो गया है। नेत्र रोग विशेषज्ञ डॉ० सिद्धार्थ कंसल ने संतोकवा दुर्लभजी अस्पताल, जयपुर मे पिछले एक साल मे आये ऐसे सात रोगियों को चिकित्सकों की मीटिंग में दिखाया जो कोर्टिकोस्टेरोइड-क्लोरोमाईसिटीन की संयुक्त औषधियों के लम्बे अर्से तक उपयोग से अन्धे हुये है। शहर के मात्र एक अस्पताल में जहां एक वर्ष में ऐसे केस आये जो ऐसी दवा के उपचार से अन्धे हुए है, वहां रोगियों की व्यापक संख्या का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

दूसरे ऐसे ही दुर्भाग्य वाले रोगी है 22 साल के गंगानगर के एक साधारण अध्यापक कालू सिंह। इनको भी आंखो मे खुजली और पानी गिरने की बीमारी थी। इनको भी कोर्टिकोस्टेरोइड-क्लोरोमाईसिटीन की वही संयुक्त औषधि आंखो मे डालने के लिए लिखी गयी। महीनो बराबर डालते गये। फलस्वरूप आँखों मे ग्लोकोमा (काला पानी) उतर आया। आंखो मे रोशनी पर असर पड़ा। पहले एक आंख और फिर दूसरी आख में आपरेशन करना पड़ा। लेकिन दुर्भाग्य देखिये कि फिर कोर्टिको-स्टेरोइड की आंख मे डालने की दवा लिख दी गयी। आंखो में मोतियाविन्द उतर आया और दिखना बन्द हो गया। मोतियाबिन्द का आपरेशन किया गया। अस्पताल मे दिखाने आये तब भी दवा डाल रहे थे और कह रहे थे कि उन्हे उससे अच्छा महसूस होता है। अच्छा तो लग रहा है लेकिन धीरे-धीरे आँखों को नुकसान बढ़ रहा है। बाईं में रोशनी करीब-करीब सारी खत्म हो चुकी है। दाई मे अभी बाकी है।

यह होता है ऐसी औषधि के लम्बे प्रयोग से या तो आँखों मे ग्लोकोमा (काला पानी) उतर आता है, जिससे गई आँखों की ज्योति को इलाज से वापस नही लाया

जा सकता । या आँखो में मोतियाविन्द उतर आता है, जिसके इलाज के बाद रोशनी वापस आ जाती है लेकिन मोटे चश्मे के साथ । हर शहर, हर प्रदेश में हजारों ऐसे बदकिस्मत लोग होते है जो अज्ञानतावश ऐसी दवाओ के दुरुपयोग से अन्धे होते हैं।

डॉ. कंसल ने जो रोगी चिकित्सको को दिखाये उनमें तीन को ग्लोकोमा और चार को यह दवा डालने से केटेरेक्ट (मोतियाविन्द) हुआ ।

बाईस साल के, राजा पार्क, जयपुर के रहने वाले सिख नवयुवक अरविन्द सिह, जिन्हें तीन महीने हर रोज और फिर 6 महीने जब कभी जरूरत पड़ने पर, कोर्टिकोस्टेरोइड-क्लोरोमाईसिटीन की संयुक्त औषधि आँखो में डालने को दी गयी जिसके कारण दोनो आँखो में मोतियाविन्द हुआ । एक आंख मे आपरेशन करा चुके है और दूसरी मे मोतियाविन्द से बिल्कुल रोशनी नही है और आपरेशन करवाना है। हाल ही में बी. काम. किया है और मोटे चश्मे से दिखता है । पहाड़ जैसा पूरा जीवन सामने है ।

अन्य तीन महिलाएं है । सभी मात्र करीब तीस साल की उम्र की । सभी को एलेर्जिक कंजक्टिवाईटिस के लिये कार्टिकोस्टेरोइड-क्लोरोमाईसिटीन की संयुक्त दवा लिखी गयी और लम्बे अर्से तक ली गयी । तीनो की आंखों मे मोतियाबिन्द उतर आया और रोशनी जाने पर आपरेशन करवाना पड़ा ।

कोर्टिकोस्टेरोइड युक्त दवाओ के आखो में प्रयोग के कुप्रभाव से आखो की रोशनी जाने की व्यापकता इस तथ्य से लगाई जा सकती है कि जहां डॉ० कंसल के पास जयपुर के एक अस्पताल मे सात केस आये वहीं जयपुर के अन्य नामी नेत्र विशेषज्ञ डॉ० हरीचरण के पास हर महीने ऐसे औसतन दो मरीज उनके नर्सिंग होम में आते हैं यानी (साल में 25) और अजमेर के नेत्र विशेषज्ञ डॉ० क्षेत्रपाल के पास हर हजार में औसतन दो मरीज जो वे हर महीने देखते हैं ।

कोर्टिकोस्टेरोइड्स के आखो मे लम्बे प्रयोग से ग्लोकोमा (काला पानी) और केटेरेक्ट (मोतियाविन्द) दोनो प्रमाणित सर्वविदित तथ्य है । फिर क्यो मरीजों को इसके प्रति आगाह नही किया जाता ? औषधि निर्माणकर्त्ता क्यो अपनी दवाओं पर यह तथ्य लिखकर चेतावनी नहीं देते ? जब मात्र लापरवाही के कारण इस औषधि के कुप्रभाव से इतने लोग अन्धे होते हैं तो क्या औषधि निर्माता एवं डाक्टरों का यह दायित्व नही कि चेतावनी के उचित तरीके अपनाये जाएं ? क्या औषधि नियन्त्रकों (ड्रग कन्ट्रोलर्स) को इस विषय में जानकारी नही है ?

इसी प्रकार क्लोरोमाईसिटीन के लम्बे उपयोग अथवा बार-बार उपयोग से घातक एप्लास्टिक एनीमिया (रक्तता) होने की सम्भावना एक वैज्ञानिक तथ्य है । फिर भी एलर्जिक कंजक्टिवाइटिस के लिए कोर्टिकोस्टेरोइड दवाओं के साथ संयुक्त रूप मे होने के कारण इसका निरर्थक उपयोग आम है । दुर्भाग्य से यह धारणा कि मात्र कुछ बून्द आंखों में डालने से ऐसा घातक कुप्रभाव हो सकता है, और होता है,

इस विषय मे अज्ञानता भी आम है । और इसका लाभ उठा रहे है जो रोगों में तिजारत करते है ।

आवश्यकता है कि दवा निर्माताओं को अपना दायित्व निभाने को बाध्य किया जाए । बिक्री दवाओ के कुप्रभाव के प्रति समुचित चेतावनी देना निर्माताओं का कर्त्तव्य है । चिकित्सक दवा लिखते समय रोगियों को इस विषय में आगाह करे और सभी इन दवाओं के लम्बे समय तक प्रयोग के खतरे के प्रति सावधान और सतर्क रहें । महज आराम मिलता है इसलिए लम्बे समय तक आंखो मे दवा डालना खतरनाक है ।

गर्भावस्था में-1

गर्भावस्था में भ्रूण जब विकास के नाजुक दौर से गुजर रहा होता है, मां द्वारा ली गई दवाएं कितनी घातक हो सकती है, इस तथ्य को उजागर करता है, रविन्द्रनाथ टैगोर मेडिकल कालेज, उदयपुर मे किया गया डॉ जहरा अब्बास का अध्ययन ।

अध्ययन के एक वर्ष मे मेडिकल कालेज के जनाना अस्पताल मे 4291 जन्म हुए, जिनमें से 81 मे जन्मजात विकृतियां थीं । अर्थात् प्रति 1000 प्रसव पर 19 विकृत बच्चों की जन्म दर ।

गर्भस्थ शिशु में अगर जन्मजात विकृतियां हो तो गर्भ, समय से पूर्व गिरने की काफी सम्भावना रहती है । इस अध्ययन मे 81 विकृत बच्चो में से 55 (68 प्रतिशत) का जन्म समय से पूर्व हुआ था ।

जिन महिलाओं ने विकृत बच्चों को जन्म दिया था, उनमे इस बात का विशेष अध्ययन किया गया कि उन्होने गर्भावस्था मे किन-किन दवाओं का, विशेष कर ऐसी दवाओ का जो गर्भावस्था मे वर्जित है, का सेवन किया । जो तथ्य सामने आये वे चौकानेवाले है ।

(1) **कोर्टिको स्टेरोइड**—तीन महिलाओ ने आस्थमा और गुर्दे की बीमारी के लिए इन दवाओं का सेवन किया था ।

जन्मजात विकृतियां— मोतिया-बिंद (केटेरेक्ट) से अन्धे–2 । एक आंख बनी ही नही, दूसरी अविकसित–1 । साथ ही उन बच्चो मे एक का मूत्रद्वार गलत जगह खुला था और दूसरे का लिंग अविकसित था ।

(2) **टेरामाईसिन, क्लोरोक्युन, नाइट्रो-फ्युरेन्टोइन और पीड़ा नाशक दवाएं**— पांच अन्य महिलाओं ने, जिन्होने विकृत बच्चों को जन्म दिया, उन

निषिद्ध दवाओं का सेवन गर्भावस्था के प्रथम चरण में तेज बुखार के लिए किया गया था। सम्भव है, मुख्य में बुखार विषाणु जनित (वायरल) हो और विकृतियां भी उसी कारण।

विकृतियां—मस्तिष्क विहिन बच्चे	–2
होंठ और तालू कटा	–1
मस्तिष्क और सुषुम्ना का एक भाग बाहर	–1
अनेक विकृतिया	–1

(3) होर्मोन्स—

(क) ईस्ट्रोजन-प्रोजेस्टरोन फोर्ट गर्भ निर्धारण के लिए—अध्ययन में दस ऐसी महिलाएं थी जिन्होंने गर्भावस्था की प्रारम्भिक अवस्था मे गर्भ परीक्षण के लिए इस निषिद्ध निदान की विधि अपनाई थी।

इन दस महिलाओं में से चार ने अर्थात् 40 प्रतिशत ने विकृत बच्चों को जन्म दिया।

विकृतियां—होठ कटा	–1
स्यूडोहर्मोफ्रोडाइट (लड़की-लड़के दोनों की जनेजेन्द्रिया)	–1
पांच टेढे, हाथ में अधिक उंगलिया	–1
आंतें बाहर हृदय की विकृतिया	–2 (जुड़वा)

(ख) होर्मोन्स—गर्भावस्था के प्रथम चरण मे रक्तस्राव और गर्भ गिरने की सम्भावना को रोकने के लिए होर्मोन्स द्वारा उपचार।

अध्ययन मे कुल 18 ऐसी महिलाएं थी जिनको थ्रेटन्ड अभोर्शन के लिए होर्मोन्स दिए गए थे, इनमे से दस अर्थात् 55 प्रतिशत मे विकृत बच्चे जन्मे।

विकृतियां—मस्तिष्क विहीन	–2
हाइड्रोकेफेलस	–3
मस्तिष्क और सुषुम्ना बाहर	–3
खुली सुषुम्ना	–1
आतें बाहर	–1
कटा होंठ	–1
मुड़े पांव	–1

(4) एक्स-रे—केवल एक महिला जिसने विकृत बच्चे को जन्म दिया था, गर्भावस्था के शुरू में एक्स-रे करवाया था।
विकृतियां—बच्चे को अनेक विकृतियां थीं।

इस अध्ययन के अनुसार 81 में से 24 विकृत बच्चों को जन्म देने वाली महिलाओं ने स्पष्ट रूप से ऐसी दवाओं को सेवन किया था जिनका गर्भावस्था मे सेवन निषिद्ध है। ये ऐसी महिलाएँ थी जिनके पास गर्भावस्था के प्रथम चरण में ली गई दवाओं का प्रमाण था और जिन्हें इसके बारे में याद था।

कितनी ही ऐसी महिलाएँ होंगी जिन्हें न इस बारे में याद होगा, न ध्यान, क्योंकि नौ महीने पूर्व ली गई, दो-चार दिन की दवाओं की याद किसे रहती है। लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि गर्भावस्था के नाजुक चरण में मात्र कुछ दिन के लिए ली गई दवाएँ भी घातक हो सकती है।

एक और तथ्य ध्यान देने योग्य है। इन 81 महिलाओं में से 45 (56 प्रतिशत) गांवों से आयी थी। कीटनाशक दवाओं का उत्तरोत्तर बढ़ता उपयोग और ग्रामीण महिलाओं का गर्भावस्था के प्रारम्भिक दिनो में उनसे सम्पर्क, इसके लिए कितना उत्तरदायी हो सकता है, एक विचारणीय विषय है, जिसे अनदेखा नही किया जा सकता। कीटनाशक का कुप्रभाव सर्वविदित है।

डॉ. जहरा अब्बास के इस अध्ययन का एक और तथ्य रोचक और चौकाने वाला था। विकृत बच्चों में से 19 मस्तिष्क विहीन बच्चे थे और इनमें से 12 (64 प्रतिशत) लड़कियां। स्त्रीलिंग बच्चों में मस्तिष्क की विकृतियों का अपेक्षाकृत अधिक होना, जिस विशेष ओर इंगित करता है वह भी विचारणीय है।

गर्भावस्था में-2

हमारे समाज में एक सधवा स्त्री के लिए बांझपन से बढ़कर अभिशाप दूसरा नहीं। इससे उबरने के लिए क्या कुछ उपाय नही किये जाते लेकिन उस क्रूर स्थिति की तो कल्पना कीजिए जब किसी डॉक्टर की चिकित्सा के फलस्वरूप ऐसी स्त्री गर्भधारण करे और उसी डॉक्टर की लापरवाही से दी गयी दवाओ के फलस्वरूप मां बनने से वंचित रह जाये।

एक ऐसी ही महिला जो शादी के छः साल बाद भी मां नही बन पाई थी, एक लेडी डॉक्टर के पास गई। 11 अप्रेल, 1984 को आवश्यक दवा देने के उपरांत उसके गर्भाशय की आपरेशन द्वारा सफाई की गयी।

चार दिन बाद महिला को फिर उन्ही डॉक्टर ने देखा और "क्लोफर्ट" नामक

औषधि लिखी, जिससे निश्चित अवधि के बाद डिम्ब, डिम्बग्रन्थि से परिपक्व होकर आ जाए और उस सम्भावित दिन को ध्यान में रखते हुए संभोग के बारे में हिदायतें दी ताकि शुक्राणु और डिम्ब का मिलन हो सके।

24 अप्रेल, यानि डिम्ब और शुक्राणु के सम्भावित मिलन के दिन से एक सप्ताह में महिला फिर उन्ही डॉक्टर के पास परीक्षण हेतु आई। डॉक्टर ने उन्हें छः प्रकार की दवायें लिखी जिनमें "ओरिप्रम डी० एस" नामक रोगाणु नाशक सल्फा औषधि और "प्रेग्नोडोक्सीन" नामक उल्टियां रोकने की दवा थी जो मेक्लीजीन हाइड्रोक्लोरएड थी। इनमे से पहली दवा गर्भावस्था मे सर्वथा वर्जित है और दूसरी भी गर्भावस्था की उल्टियों में नही देना ही बेहतर है। जब डॉक्टर को अनुमानित गर्भधारण का दिन मालूम था तो उसके ठीक बाद यह दवाएँ नही दी जानी चाहिये थी। लेकिन यह दवाएं चार दिन तक दी गई।

तत्पश्चात 29 अप्रेल को महिला फिर उन डॉक्टर के पास आयी। इस बार उन्हे तीन तरह के टानिक लिखे गये और साथ में दी गई "एन्टोवेक्स" जो आवं-दस्तों में अक्सर दी जाती है। डॉक्टर इस बार फिर भूल गई कि यह औषधि गर्भावस्था में नहीं दी जाती। लेकिन इस ओर ध्यान जाना तो दूर, 3 मई को जब महिला फिर आयी तो डॉक्टर ने उपरोक्त सभी दवायें तीन दिन तक और लेने को लिख दी।

दिन गुजरने पर यह जाहिर हो गया कि महिला के गर्भ ठहर गया था और उसका दिन वही था जब डॉक्टर ने दवा देकर डिम्बक्षरण करवाया था।

14 नवम्बर व 9 दिसम्बर और 11 जनवरी, 1985 यानी गर्भ के सातवें, आठवें और नवें महिने मे महिला नियमित रूप से डॉक्टर से मिली और हर बार उन्हें कुछ न कुछ टानिक आदि दिये गये।

11 अप्रेल, 1984 जिस दिन महिला का आपरेशन किया गया था वह महिला की माहवारी का पहला दिन साबित हुआ और उससे गणना कर जन्म की अनुमानित तिथि 18 जनवरी, 1985 निकाली गई।

इस तिथि के दो और एक सप्ताह पहले भी महिला डॉक्टर के पास गई और उन्हें कुछ दवायें लिखी गई। फिर बाद में मालूम नही क्या हुआ कि महिला को अलवर से डिलीवरी के लिए जयपुर के एक नर्सिंग होम में भेज दिया गया।

22 जनवरी को तीन बजे शाम महिला को प्रसव शुरू हुआ और सब कुछ ठीक चल रहा था कि हठात बच्चे के दिल की धड़कन बन्द हो गई और 23 तारीख पौने चार बजे उन्हें मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ।

गर्भावस्था में हानिकारक दवाओं के सेवन से गर्भ गिरना, बच्चे में जन्मजात

विकृति होना और गर्भावस्था के अन्त में मरा हुआ बच्चा पैदा होना दवाओं के कुप्रभाव का प्रमाण होता है।

दुर्भाग्य से गर्भावस्था में अन्य समय की तरह अत्याधिक दवायें लेना ही आम बात नहीं है वरन् वर्जित दवाओं का देना और सेवन भी काफी प्रचलित है। लेकिन क्योंकि दवा के सेवन और उसके हानिकारक प्रभाव के फल प्रतिलक्षित होने में काफी अन्तराल होता है अतः दोनों का सम्बन्ध अक्सर नजर नहीं आता, खासकर जन्मोपरांत प्रतिलक्षित कमियों के लिए।

सवाल यह नहीं है कि वर्तमान संदर्भ में दी गई दवायें ही बच्चे की मृत्यु के लिए उत्तरदाई थी या नहीं लेकिन वर्जित हानिकारक दवाओं को देना अनुचित था और उससे इसकी सम्भावना बढ़ती है यह एक वैज्ञानिक सत्य है।

एन्टीबायोटिक–1

जीवाणुओं का सूक्ष्म संसार अत्यन्त व्यापक और विलक्षण होता है। चुटकी भर धूल में लाखों जीवाणु होते हैं और उन लाखों में से हर एक जीवाणु, मात्र कुछ ही घंटों में, एक से एक करोड़ नये जीवाणुओं को जन्म दे सकता है, बशर्ते उसे पर्याप्त पोषण तत्व उपलब्ध हो।

जीवन संघर्ष और प्रतिस्पर्धारत कुछ जीवाणु ऐसे तत्व सृजन करते हैं, जो अपने से भिन्न जीवाणुओं के लिए घातक होते हैं। इन्हीं प्रतिजीवी तत्वों से जीवाणु अपनी और अपने भोजन की अन्य जीवाणुओं से रक्षा करते हैं।

आज से मात्र पचपन साल पहले सन् 1928 में, अलेक्जेण्डर फ्लेमिंग प्लेट में संवर्धन (कल्चर) माध्यम (मीडिया) में कुछ रोगाणुओं की संवर्धन प्रक्रिया का अध्ययन कर रहे थे। वातावरण से फफूंद के कुछ बीजाणु संयोग से उसमें गिर गए। दूसरे रोज फ्लेमिंग को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि रोगाणुओं से ढकी सतह पर बीच-बीच में फफूंद उग आयी थी और फफूंद के हर समूह के चारों ओर एक परिधि का क्षेत्र, रोगाणु विहीन था। गवेषणा और अनुसन्धान से फ्लेमिंग ने ज्ञात किया कि फफूंद द्वारा सृजनित प्रतिजीवी तत्व, पेनिसिलिन, रोगाणुओं को नष्ट कर रहा था।

विश्व की यह प्रथम प्रतिजीवी औषध (एन्टीबायोटिक) पेनिसिलिन चमत्कारी असर वाली थी। 1840 में पहली बार यह संक्रामक रोग में प्रयोग हुई और लाखों लोगों की जान बचाने वाली औषध सिद्ध हुई।

लेकिन अर्द्ध शताब्दी से कम समय में इस औषधि का चमत्कार खत्म हो गया पेनिसिलिन जब प्रथम प्रयोग हुई, स्टेफिलोकोकल आरियस नामक रोगाणुओं के विरुद्ध शत-प्रतिशत सार्थक थी। 1981 में इसकी सार्थकता मात्र दस प्रतिशत में सीमित होकर रह गई। कारण है पेनिसिलिन का अन्धाधुन्ध प्रयोग और उसके फलस्वरूप रोगाणुओं में उत्पन्न प्रतिजीवी प्रतिरोधक शक्ति (एन्टीबायोटिक रेजिस्टेन्स)।

पेनिसिलिन और स्टेफाइलोकोकल के लिए जो सत्य है, वह अन्य प्रतिजीवी औषधियों और अन्य रोगाणुओं के लिए भी है। प्रतिजीवी औषधियों के व्यापक अंधाधुन्ध प्रयोग के फलस्वरूप हर प्रकार के रोगाणुओं की ऐसी नस्लें उत्पन्न हो गई है जिन पर इन औषधियों का असर अब नहीं होता।

प्रतिजीवी प्रतिरोधक शक्ति केवल एक प्रतिजीवी औषधि के लिए ही नहीं वरन् अनेक औषधियों के प्रति एक साथ भी होती है। ऐसे रोगाणुओं की नस्लों में उत्तरोत्तर बढ़ोतरी हो रही है जो अधिकांश प्रतिजीवी औषधियों के विरुद्ध प्रतिरोधक शक्ति रखते हैं। ऐसे रोगाणुओं से हुआ संक्रमण घातक होता है, कारण कोई दवा इन पर असर नहीं करती।

हाल ही में पच्चीस देशों के डेढ़ सौ से अधिक वैज्ञानिकों ने अपील की है कि प्रतिजीवी औषधियों के विज्ञापन, प्रयोग और वितरण पर यदि समुचित नियन्त्रण नहीं किया गया तो उनके दुरुपयोग से उत्पन्न प्रतिरोधी रोगाणुओं की नस्लें, समस्त मानव जाति के लिए भयानक सिद्ध हो सकती है। उपभोक्ता संघों के विश्व सगठन ने इस अपील का अनुमोदन किया है।

भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद द्वारा किए गये सर्वेक्षण से यह तथ्य उभर कर आया कि औषधालय व अन्यत्र लिखे गये नुस्खों में प्रतिजीवी औषधि निर्देश (प्रिसक्रिप्शन) अधिकांशतः निराधार व अनुचित होते हैं। परिषद ने उत्तरोत्तर बढ़ते प्रतिजीवी औषधियों के दुरुपयोग पर गहरी चिन्ता व्यक्त की है। विश्वस्तर के अनुमानित आंकड़ों के अनुसार, पिछड़े देशों में अस्सी से नब्बे प्रतिशत प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग निरर्थक होता है।

प्रतिजीवी (एन्टीबायोटिक) के अन्धाधुन्ध प्रयोग से रोगाणुओं की कैसी घातक नस्ल पैदा होती है, यह उजागर हुआ टाईफाइड (मोतीझरा, मियादी बुखार) के उन रोगाणुओं से जिनमें इस रोग की अचूक दवा, क्लोरोमाईसिटीन के विरुद्ध प्रतिरोधक शक्ति पैदा हो गई थी। केरल में 1972 में 3,000 और मेक्सिको में 10,000 लोगों को इन प्रतिरोधी रोगाणुओं से टाईफाइड हुआ जिन पर क्लोरोमाईसीटीन सर्वथा प्रभावहीन थी। इन घातक रोगाणुओं से गुआटेमाला में 13,000 लोगों की मृत्यु हुई। तदोपरान्त त्रिवेन्द्रम, एर्नाकुलम, मदुरई, बम्बई, चण्डीगढ़ और

दिल्ली में इन प्रतिरोधी रोगाणु जनित टाईफाईड महामारी हो चुकी है। स्वास्थ्य महानिदेशालय द्वारा प्रसारित नवीनतम आंकड़ों के अनुसार देश में आज लगभग तीन लाख मरीज प्रति वर्ष मियादी बुखार से पीड़ित होते हैं।

भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद के एक विशेष अध्ययन ग्रुप ने देश के जीवाणु विज्ञान अनुसंधान में कार्यरत विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा प्रसारित, प्रतिरोधी रोगाणुओं सम्बन्धी आंकड़ों का संकलन एवं विश्लेषण किया है। देश के अस्पतालों में स्थिति भयावह है। अस्पताल, प्रतिरोधी रोगाणुओं के घर बन गये हैं। कारण, सामान्य रोगाणु तो अस्पताल में बहुलता से उपयोग में आने वाली औषधियों से कभी के मर चुके हैं। केवल वे ही रोगाणु बच पाये हैं, जिनमें औषधियों के विरुद्ध प्रतिरोधकता है, जिन पर इन औषधियों का असर नहीं होता। अस्पताल में भरती मरीजों में इन रोगाणुओं से हुआ संक्रमण मौत का प्रतीक माना जाता है।

देश के अस्पतालों में व्याप्त निम्नस्तरीय स्वच्छता और गन्दगी में यह रोगाणु निरापद एक से असंख्य होते हैं। साथ ही एन्टीसेप्टिक (प्रतिरोधी) एवं असेप्टिक उपायों की, डाक्टरों, नर्सों और तीमारदारों द्वारा सर्वथा अवज्ञा के फलस्वरूप, रोगाणुओं का संचारण, सहज हो एक से अनेक मरीजों तक होता है। वस्तुतः अस्पताल रोगाणुओं के मापदण्ड में सबसे खतरनाक स्थान है। भारतीय लेखक की बहुप्रचलित रोग निरोधक विज्ञान की पाठ्य पुस्तक के अनुसार, रोगों के उपचार के लिए हमारे घर अस्पताल की तुलना में अधिक स्वच्छ और सुरक्षित है, अगर घर पर उपचार कराने की क्षमता मरीज में हो तो।

देश के अपेक्षाकृत सुसंचालित अस्पतालों में नियोजित शल्य-चिकित्सा (प्लांड सर्जरी) के उपरान्त, संक्रमण दर दस से तीस प्रतिशत है। अधिकांश अन्य अस्पतालो में तो यह दर कहीं अधिक है और अस्पताल के भयावह प्रतिरोधी रोगाणुओं द्वारा हुए संक्रमण से हजारों लोग संकटग्रस्त होते हैं और मरते हैं।

भारतीय चिकित्सा परिषद द्वारा पारित आंकड़ों के अनुसार, प्रतिजीवी औषधियों का दुरुपयोग मुख्यतः तीन प्रकार का है। पहला सम्भावित संक्रमण के लिए प्रतिजीवी औषध देना। मसलन हर मरीज को आपरेशन के बाद प्रतिजीवी औषध देना। यह प्रचलन सर्वथा गलत है, कारण सुनियोजित आपरेशन के बाद संक्रमण रोग होना ही नही चाहिए और अगर कुछ मरीजों में हुआ भी, तो होने पर उनको औषधि दी जा सकती है।

दूसरा निराधार उपयोग है प्रतिजीवी औषधियो का प्रवाहिका (पानी जैसे दस्त) में देना। बच्चों में ऐसे दस्त अधिकांशतः विषाणु (वायरस) जनित होते हैं जिनमें प्रतिजीवी औषधियां कार्य नही करती। कोलेरा आदि में भी पहले दस्त रोगाणुओं

द्वारा उत्पन्न जीव विष (टोक्सीन) के कारण होता है जिसके निराकरण में प्रतिजीवी व्यर्थ होती है।

तीसरा अत्यधिक एवं अनुचित उपयोग है प्रतिजीवी औषधियां सामान्य और जरा से संक्रमण और विषाणु (वायरस) जनित रोगों में। सामान्य संक्रमण से निपटने के लिए शरीर के रक्षा संस्थान सर्व समर्थ होते है, अतः प्रतिजीवी देना व्यर्थ और निरर्थक है। विषाणु-जनित रोगो मे प्रतिजीवी सर्वथा प्रभावहीन होती है। सर्दी, जुकाम, फ्लू आदि विषाणु-जनित ज्वरों मे प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग, महज इस आधार पर कि उनमे रोगाणुओ का सम्भावित संक्रमण हो सकता है, एक बहु प्रचलित अनुचित उपयोग है।

इसके अतिरिक्त देश मे विभिन्न चिकित्सा प्रणालियों के चिकित्सक एवं हजारो नीम-हकीमों द्वारा लिखी गई प्रतिजीवी औषधियां और उनका बिना नियन्त्रण, बिना उचित नुस्खे के दुकानो पर खुले बिकना भी इनके दुरुपयोग का मुख्य कारण है।

केवल रोगाणु ही नही, आंतो में रहने वाले सामान्य जीवाणु भी प्रतिजीवी औषध लेने के फलस्वरूप प्रतिरोधक शक्ति उपलब्ध कर लेते है। खतरा यह है कि सामान्य जीवाणुओ द्वारा उपलब्ध प्रतिरोधक शक्ति, रोगाणुओ मे प्रतिरोपित हो सकती है। फलस्वरूप बिना प्रतिजीवी औषधियों के सम्पर्क में आये भी रोगाणु प्रति-रोधी शक्ति प्राप्त कर लेते है। निराधार, संक्रमण के न होने पर भी, प्रतिजीवी औषध खाने वाले स्वस्थ लोगो की आंतो मे स्थित सामान्य प्रतिरोधी जीवाणु, इस प्रकार पूरे समाज के लिए खतरनाक होते है।

विश्व के वैज्ञानिको द्वारा पारित अपील, विश्व उपभोक्ता संगठन द्वारा दी गई चेतावनी व भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद द्वारा दिये गये, सुझावों पर यदि समुचित एवं सामयिक उपाय, प्रतिजीवी औषधियों के प्रयोग पर नियन्त्रण के लिये नही किये गये, तो भविष्य मे स्थिति बेकाबू और भयावह हो सकती है।

एन्टीबायोटिक्स-2

देश मे एन्टीबायोटिक्स औषधियों का उत्तरोत्तर बढ़ता दुरुपयोग और उससे होने वाले दुष्परिणाम गम्भीर चिन्ता के विषय बन गए है।

पेट्रोलियम रसायन और उर्वरक मन्त्रालय द्वारा प्रसारित आंकड़ो के अनुसार देश में सन् 1981 में औषधि उद्योग द्वारा निर्मित 1200 करोड़ कीमत की औष-धियां बाजार में बिकी। इनमें से 75 प्रतिशत कीमत की औषधियां एन्टीबायो-टिक्स थी।

आधुनिक औषधियां, उदार अनुमान के आधार पर भी, देश के 25 प्रतिशत लोगों से अधिक को उपलब्ध नही है। इस प्रकार, 900 करोड़ रुपये कीमत की एन्टीबायोटिक्स का उपयोग 17 करोड़ लोगों में से भी केवल उन द्वारा किया गया जो बीमार पड़े। सन् 1984–85 में औषधियो का अपेक्षित उत्पादन बढ़कर 2450 करोड़ रुपये हो जायेगा।

देश में औषधियो के अत्यधिक प्रयोग का अनुमान उस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि 1981 में चिकित्सा एवं स्वास्थ्य पर कुल व्यय 350 करोड़ रुपयो का 40 से 60 प्रतिशत औषधियों पर था जबकि विश्व के उन्नत और विकसित देशों में चिकित्सा सेवाओं के कुल बजट का मात्र 10 से 20 प्रतिशत औषधियों पर खर्च होता है।

ऐसे अनेक प्रमाणित तथ्य चिकित्सा की मान्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं कि जहां डाक्टरों की मरीजों को एन्टीबायोटिक्स देने का औचित्य ठहराने की परम्परा या बाध्यता नही है, वहां एन्टीबायोटिक्स का निरर्थक उपयोग बहुलता से होता है। एक अध्ययन के फलस्वरूप यह उजागर हुआ कि जब दवा लिखने वाले डाक्टरों को पहले से यह बता दिया गया कि उनके नुस्खे एन्टीबायोटिक्स के औचित्य के लिये देखे जायेंगे, या जब उनको बाध्य किया गया कि वे एन्टीबायोटिक्स की आवश्यकता का आधार भी नुस्खे में लिखें, तो एन्टीबायोटिक्स का उपयोग 25 प्रतिशत कम हो गया।

एक अन्य अध्ययन में जब दवाओं के साथ रोग का निदान भी नुस्खे में लिखवाया गया तो विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि 62 प्रतिशत में इसके औचित्य का कोई आधार नही था।

इस तरह के कुछ अध्ययन में एन्टीबायोटिक्स का निराधार प्रयोग तो 80 से 90 प्रतिशत तक पाया गया।

भारत जैसे गरीब देश में मंहगी एन्टीबायोटिक्स का निरर्थक प्रयोग तो और भी दुर्भाग्यपूर्ण है। कारण, एक गरीब बाप के पास किसी बीमारी के लिये बेकार एन्टीबायोटिक्स पर खर्च करने के बाद शायद इतना भी पैसा न बचे कि अपने बच्चे को विटामिन "ए" की कमी से अन्धेपन से बचाने के लिये सस्ती दवा भी खरीद सके।

ऐसे अनेक शोध पत्र हाल ही में देश मे अनुसंधान के बाद प्रकाशित हुए है जिनसे ज्ञात हुआ है कि एन्टीबायोटिक्स के व्यापक दुरुपयोग के फलस्वरूप रोगाणुओं की एक ऐसी नस्ल पैदा हो गई है जिन पर एक या अनेक एन्टीबायोटिक्स का अब कोई असर नही होता। ऐसे रोगाणुओं से उत्पन्न रोग घातक होते हैं।

द्वारा उत्पन्न जीव विष (टॉक्सीन) के कारण होता है जिसके निराकरण में प्रतिजीव व्यर्थ होती है ।

तीसरा अत्यधिक एवं अनुचित उपयोग है प्रतिजीवी औषधिया सामान्य और जरा से संक्रमण और विषाणु (वायरस) जनित रोगो में । सामान्य संक्रमण से निपटने के लिए शरीर के रक्षा संस्थान सर्व समर्थ होते हैं, अतः प्रतिजीवी देना व्यर्थ और निरर्थक है । विषाणु-जनित रोगो में प्रतिजीवी सर्वथा प्रभावहीन होती है । सर्दी, जुकाम, फ्लू आदि विषाणु-जनित ज्वरों मे प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग, महज इस आधार पर कि उनमें रोगाणुओं का सम्भावित संक्रमण हो सकता है, एक बहु प्रचलित अनुचित उपयोग है ।

इसके अतिरिक्त देश मे विभिन्न चिकित्सा प्रणालियो के चिकित्सक एवं हजारो नीम-हकीमों द्वारा लिखी गई प्रतिजीवी औषधिया और उनका बिना नियन्त्रण, बिना उचित नुस्खे के दुकानो पर खुले बिकना भी इनके दुरुपयोग का मुख्य कारण है ।

केवल रोगाणु ही नही, आंतों मे रहने वाले सामान्य जीवाणु भी प्रतिजीवी औषध लेने के फलस्वरूप प्रतिरोधक शक्ति उपलब्ध कर लेते है । खतरा यह है कि सामान्य जीवाणुओ द्वारा उपलब्ध प्रतिरोधक शक्ति, रोगाणुओ मे प्रतिरोपित हो सकती है । फलस्वरूप बिना प्रतिजीवी औषधियों के सम्पर्क में आये भी रोगाणु प्रतिरोधी शक्ति प्राप्त कर लेते है । निराधार, संक्रमण के न होने पर भी, प्रतिजीवी औषध खाने वाले स्वस्थ लोगों की आंतों में स्थित सामान्य प्रतिरोधी जीवाणु, इस प्रकार पूरे समाज के लिए खतरनाक होते हैं ।

विश्व के वैज्ञानिको द्वारा पारित अपील, विश्व उपभोक्ता संगठन द्वारा दी गई चेतावनी व भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद द्वारा दिये गये, सुझावो पर यदि समुचित एवं सामयिक उपाय, प्रतिजीवी औषधियो के प्रयोग पर नियन्त्रण के लिये नहीं किये गये, तो भविष्य मे स्थिति बेकाबू और भयावह हो सकती है ।

एन्टीबायोटिक्स–2

देश में एन्टीबायोटिक्स औषधियो का उत्तरोत्तर बढ़ता दुरुपयोग और उससे होने वाले दुष्परिणाम गम्भीर चिन्ता के विषय बन गए हैं ।

पेट्रोलियम रसायन और उर्वरक मन्त्रालय द्वारा प्रसारित आंकड़ो के अनुसार देश में सन् 1981 में औषधि उद्योग द्वारा निर्मित 1200 करोड़ कीमत की औषधियां बाजार में बिकी । इनमें से 75 प्रतिशत कीमत की औषधियां एन्टीबायोटिक्स थी ।

आधुनिक औषधियां, उदार अनुमान के आधार पर भी, देश के 25 प्रतिशत लोगों से अधिक को उपलब्ध नही है। इस प्रकार, 900 करोड़ रुपये कीमत की एन्टीबायोटिक्स का उपयोग 17 करोड़ लोगों में से भी केवल उन द्वारा किया गया जो बीमार पड़े। सन् 1984–85 में औषधियों का अपेक्षित उत्पादन बढ़कर 2450 करोड़ रुपये हो जायेगा।

देश मे औषधियों के अत्यधिक प्रयोग का अनुमान उस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि 1981 में चिकित्सा एवं स्वास्थ्य पर कुल व्यय 350 करोड़ रुपयों का 40 से 60 प्रतिशत औषधियों पर था जबकि विश्व के उन्नत और विकसित देशों में चिकित्सा सेवाओं के कुल बजट का मात्र 10 से 20 प्रतिशत औषधियों पर खर्च होता है।

ऐसे अनेक प्रमाणित तथ्य चिकित्सा की मान्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं कि जहां डाक्टरों की मरीजों को एन्टीबायोटिक्स देने का औचित्य ठहराने की परम्परा या बाध्यता नही है, वहां एन्टीबायोटिक्स का निरर्थक उपयोग बहुलता से होता है। एक अध्ययन के फलस्वरूप यह उजागर हुआ कि जब दवा लिखने वाले डाक्टरों को पहले से यह बता दिया गया कि उनके नुस्से एन्टीबायोटिक्स के औचित्य के लिये देखे जायेंगे, या जब उनको बाध्य किया गया कि वे एन्टीबायोटिक्स की आवश्यकता का आधार भी नुस्से में लिखें, तो एन्टीबायोटिक्स का उपयोग 25 प्रतिशत कम हो गया।

एक अन्य अध्ययन में जब दवाओं के साथ रोग का निदान भी नुस्से में लिखवाया गया तो विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि 62 प्रतिशत में इसके औचित्य का कोई आधार नही था।

इस तरह के कुछ अध्ययन मे एन्टीबायोटिक्स का निराधार प्रयोग तो 80 से 90 प्रतिशत तक पाया गया।

भारत जैसे गरीब देश में मंहगी एन्टीबायोटिक्स का निरर्थक प्रयोग तो और भी दुर्भाग्यपूर्ण है। कारण, एक गरीब बाप के पास किसी बीमारी के लिये बेकार एन्टीबायोटिक्स पर खर्च करने के बाद शायद इतना भी पैसा न बचे कि अपने बच्चे को विटामिन "ए" की कमी से अन्धेपन से बचाने के लिये सस्ती दवा भी खरीद सके।

ऐसे अनेक शोध पत्र हाल ही में देश मे अनुसंधान के बाद प्रकाशित हुए है जिनसे ज्ञात हुआ है कि एन्टीबायोटिक्स के व्यापक दुरुपयोग के फलस्वरूप रोगाणुओं की एक ऐसी नस्ल पैदा हो गई है जिन पर एक या अनेक एन्टीबायोटिक्स का अब असर नही होता। ऐसे रोगाणुओं से उत्पन्न रोग घातक होते हैं।

बम्बई में किये गए एक सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि शहरी लोगों की आंतों में स्थित जीवाणुओं में से 28 प्रतिशत पर एक से अधिक एन्टीबायोटिक्स प्रभाव हीन थी। जबकि उसकी तुलना में शहर से दूर स्थित गांववासियों में मात्र 6 प्रतिशत में ऐसा था।

दिल्ली में मौलाना आजाद मेडिकल कॉलेज से प्रकाशित एक अध्ययन के अनुसार 10,000 मरीजों से निदान के लिये प्राप्त रोगाणुओं में एन्टीबायोटिक्स के खिलाफ ऐसी शक्ति बहुतायत से पाई गई।

व्यर्थ में एन्टीबायोटिक्स खाने वाले स्वस्थ लोगों की आंतों में स्थित सामान्य जीवाणु में जो परिवर्तन होते है वह रोगाणुओं में प्रतिरोपित हो सकते हैं। फलस्वरूप ऐसे लोग स्वयं स्वस्थ होते हुए भी उन घातक रोगाणुओं के प्रणेता के रूप में पूरे समाज को खतरा होते हैं।

व्यर्थ के एन्टीबायोटिक्स के उपयोग से अनेक सीधे और घातक विकार भी उत्पन्न होते हैं। इसकी गम्भीरता का अन्दाजा इस बात से ही लगाया जा सकता है कि अमेरिका जैसे विकसित देश में जहां चिकित्सा प्रथा पर कड़ा कानूनी नियन्त्रण है, वर्ष में 30,000 व्यक्ति दवाओं से उत्पन्न विकारों से मरते हैं या ग्रसित पाये जाते हैं। भारत में जहां दवा लिखाने या लेने पर किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं है, वास्तविक स्थिति कितनी भयावह होगी, अन्दाज लगाया जा सकता है।

व्यर्थ विटामिन

आश्चर्य की बात कहिये या दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना, हमारे गरीब देश में जहां कुपोषण से हजारों लोग मरते है, वहीं लाखों लोग करोड़ों रुपयों के विटामिनों का पिशाब करते है। बहुत कम ऐसे विटामिन हैं जो शरीर में संग्रहित होते है। विटामिनों की आवश्यकता शरीर में इतनी कम मात्रा में होती है कि साधारण खाने में स्थित उनकी मात्रा से शरीर की जरूरत अपने आप पूरी हो जाती है। टानिक आदि के रूप में लिये गये विटामिन, खाने से मिली पर्याप्त मात्रा से अधिक होने के कारण उसी समय पिशाब के रास्ते बाहर आ जाते हैं। अतः जिन लोगों में खाने-पीने की कमी, भुखमरी या कुपोषण नहीं, उन लोगों के लिए टोनिक के रूप में विटामिन लेना, पैसे खर्च कर सुनहला पिशाब करने से अधिक कुछ नहीं।

लेकिन यह आदत या फैशन देश में किस कदर प्रचलित है, उसको जानने के लिये अगर कुछ सरकारी आंकड़ों को देखें तो तथ्य चौंकाने वाले होंगे।

रासायनिक एवं उर्वरक मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 1982–83 के आंकड़ों

अनुसार विटामिन बी-12 का उत्पादन देश में 159 किलो हुआ। राष्ट्रीय अनु-
ान काउंसिल की सिफारिश के अनुसार उस विटामिन की अधिकतम दैनिक
ावश्यकता एक वयस्क के लिये मात्र 3 माइक्रोग्राम है, यानि 3 मिलीग्राम का एक
ारवां हिस्सा। अर्थात् उत्पादित विटामिन बी-12 की मात्रा 5300 करोड़
क खुराक के बराबर है।

अन्य तरह से कहें तो अगर खाने के साथ यह विटामिन बिल्कुल न मिले
: ऊपर से दिये गये विटामिनों पर ही निर्भर किया जाये, तो यह मात्रा 14 करोड़
ों के लिये पूरे साल पर्याप्त होगी। लेकिन जैसे अन्धाधुंध खपत विटामिनों की
ही है छठी योजना के वर्ष 1984–85 में इस विटामिन की अनुमानित आव-
कता 500 किलो है यानी वर्तमान उत्पादन का तीन गुना।

इसी प्रकार थायमिन, जिसे विटामीन बी-1 कहते हैं और जिसके अभाव से
-बरी नामक रोग होता है, उसका उत्पादन 84 टन था। एक व्यक्ति के लिये
क आवश्यकता मात्र 1·5 मिली ग्राम है अर्थात वर्तमान उत्पादन 5600 करोड़
क खुराक या 15 करोड़ लोगों के पूरे साल के लिये पर्याप्त खुराक के बराबर
फिर भी छठी योजना के अनुसार वर्तमान के लिये 209 टन का प्रावधान किया
है।

राईबोफ्लाविन या विटामिन बी-2 का उत्पादन 22 टन और दैनिक प्रति
क आवश्यकता 1·5 मिलीग्राम है, 1460 करोड़ दैनिक खुराक अथवा 4 करोड़
ों के लिये सालाना जरूरत के बराबर। छठी योजना के अनुसार इस साल 60
का प्रावधान है।

यही हाल है निकोटिनिक एसिड और निकोटिनेमाइड यानी पैलेग्रा अवरोधक
जिनका संयुक्त उत्पादन 149 टन था और जिसकी प्रतिव्यक्ति खुराक 20
ोग्राम है। विटामिन सी का 901 टन और प्रति व्यक्ति दैनिक खुराक 45 मिली-
। योजना में इस वर्ष 400 टन और 1700 टन क्रमशः विटामिनों का प्राव-
है।

यह टोनिकों के रूप में बिकने वाले मंहगे ऊपरी विटामिन देश की 30%
ों में रहने वाली व साधारण रूप से खुशहाल आबादी को ही उपलब्ध होती है,
त् लगभग 25 करोड़ लोगों को। अगर प्रति 1000 में 1 इन शहरी लोगों
एक या अन्य विटामिन की कमी का अन्देशा वर्ष में एक वार हो, जिसके लिये
महीने तक विटामिन की ऊपरी खुराक देनी पड़े, तो अनुमानतः विटामिन बी-1
टन में से मात्र 10 किलो, ब–2 22 टन में से 100 किलो, बी–12,

159 किलोग्राम में से 10 किलो और विटामिन-सी 900 टन में से मात्र 500 किलो पर्याप्त होगा।

बाजार मे विटामिन बी–1 1100 रु. प्रति किलो, बी–2 2000 रुपये प्रति किलो, बी–12 100,000 रुपये प्रति किलो और विटामिन सी 285 रु० प्रति किलो मिल रहा है। टोनिक के रूप में यह बाजार में कम से कम दस गुना महंगे मिलते है। जो लोग यह महंगे टोनिक खरीद सकते हैं वे भुखमरे नही होते और खाने के साथ पर्याप्त विटामिन मिलने के कारण उनको ऊपरी विटामिनों की आवश्यकता भी नही होती। जो लेते है, वह पिशाब मे बह जाता है। कितने करोड़ रुपये इस प्रकार व्यर्थ खर्च होते है यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

ताकत की दवा मे ताकत या शक्ति देने वाला कुछ नही होता। वास्तव में यह एक धोखा है। उनसे ताकत दवाओ के व्यापारियों को ही मिलती है और किसी को नही।

कैंसर उपचार

नोबल पुरस्कार विजेता और अपनी अनेक वैज्ञानिक मौलिक उपलब्धियो के लिए विश्वविख्यात डॉ ई केमेरोन का अपने शोध कार्य पर आधारित यह दावा कि बड़ी मात्रा मे विटामिन सी के सेवन से असाध्य कैंसर के मरीजों को बड़ा लाभ होता है, गलत साबित हुआ है। विश्व प्रसिद्ध मेयो क्लिनिक के डॉ. चार्ल्स जी. मोएरटेल और डॉ. एडवर्ड टी. क्रीएगन के न्यू इंगलैंड जर्नल आफ मेडिसिन में प्रकाशित शोध कार्य से यह प्रमाणित हुआ है।

डॉ. पौलिंग और डॉ. केमेरोन ने बड़ी आँत-मलाशय के एक सौ ऐसे मरीज चुने जिनमे कैंसर इतना फैल चुका था कि किसी प्रकार का इलाज सम्भव नही था। उन्होंने इन रोगियों को बड़ी मात्रा में विटामिन सी खिलाया और यह देखा कि वे कितने दिन जीवित रहे। तुलनात्मक अध्ययन के लिए इन्होने वैसे ही बड़ी आंत-मलाशय के कैंसर के 1000 उन मरीजों के अस्पताल मे उपलब्ध विवरणों को देखा जो तब से पहले अस्पताल में भरती थे और जिन्हें विटामिन सी नही दिया गया था।

उनके अध्ययन का प्रकाशित निष्कर्ष था कि जिन मरीजो को विटामिन सी दिया गया वे मरीज बीमारी के असाध्य घोषित होने के दिन से जहां औसतन 293 दिन जीवित रहे वहीं पहले वाले मरीज, जिन्हें विटामिन सी नहीं मिला था केवल 38 दिन जीवित रहे थे।

विटामिन सी जैसे सस्ते सरल और सर्वथा कुप्रभाव रहित के इस चमत्कारी प्रभाव के प्रकाशन से, विशेषकर डॉ. पौलिंग जैसे नोबल पुरस्कार विजेता और अपने मूलभूत कार्यों के लिए विज्ञान जगत में दिग्गज माने जाने वाले, द्वारा प्रकाशित किए जाने के कारण इसने व्यापक ध्यानाकर्षण किया और शीघ्र ही सारी दुनिया मे असाध्य कैंसर के रोगियों की चिकित्सा में विटामिन सी का प्रयोग एक मान्य विधा के रूप मे प्रचलित हो गया।

मेयो क्लिनिक के शोध कर्त्ताओं ने इस तथ्य की पुष्टि के लिए कार्य किया। लेकिन जहां पौलिंग और केमेरोन ने तुलना के लिए पुराने मरीजों के रिकार्ड का अध्ययन किया था, वही मेयो क्लिनिक मे वर्तमान में आने वाले असाध्य बड़ी आंत-मलाशय के रोगियों को दो समूह में बाटा गया। एक समूह को विटामिन सी की गोलियां दी गई और दूसरे समूह को वैसी ही दिखने वाली लेकिन विटामिन सी रहित गोलियां दी गई। किसे कौनसी गोली मिली है यह रोगी और परीक्षणकर्ताओ से गुप्त रखा गया। जो निष्कर्ष निकला उसके अनुसार विटामिन सी से कैंसर के रोगियो को कोई लाभ नही हुआ।

यह निष्कर्ष डॉ. पौलिंग के दावे के सर्वथा विपरीत थे। डॉ पौलिंग ने तब यह कहकर इसे अस्वीकार किया कि मेयो क्लिनिक के शोधकर्ताओं ने अध्ययन के लिए जन असाध्य रोगियों को चुना था उनमें से अधिकांश को कैंसर के उपचार के लिए पहले सोइटोटाक्सिक दवाएँ मिली थी, और चूंकि यह दवाएँ शरीर की रक्षा प्रक्रिया को नाकाम करती है और विटामिन सी का अवरोधक प्रभाव अनुमानतः शारीरिक रक्षा प्रक्रिया को सक्रिय कर कैंसर कोशिकाओं से लड़ने से था।

डॉ. पौलिंग जैसी विलक्षण बुद्धि के धनी, जिन्होने सदा कुछ नया ही साबित किया और कभी गलत सिद्ध नही हुए, जिनके इतने अधिक चमत्कारी आविष्कार थे कि उन्हें बीसवी शताब्दी का सबसे बुद्धिमान व्यक्ति माना जाता था, उनकी बात अस्वीकार करना सहज नही था। अतः मेयो क्लिनिक के शोध कर्त्ताओं ने नये सिरे से शोध शुरू किया।

इस बार अपने अध्ययन के लिए जिन असाध्य बडी आंत-मलाशय के कैंसर के रोगियों को चुना गया उनको कोई साइटोटाक्सिक दवा नही मिली थी। पहले की तरह ही रोगियों को दो समूह मे बांटकर विटामिन सी का प्रभाव देखा गया।

अध्ययन के परिणाम हाल ही में प्रकाशित हुए हैं। विटामिन सी के सेवन से इस बार भी कैंसर के रोगियो पर कोई लाभदायक प्रभाव नही पाया गया। मेयो क्लिनिक के पहले वाले परिणाम सही सिद्ध हुए। मेयो क्लिनिक के शोधकर्ताओ के

अनुसार पौलिंग और केमेरोन ने तुलनात्मक अध्ययन के लिए पुराने मरीजों के विवरणों को चुनकर भूल की थी। विटामिन सी से लाभ के लक्षण इस गलत तुलनात्मक अध्ययन के परिणाम थे न कि कैंसर पर किसी प्रभाव के फलस्वरूप।

न्यू इंगलैंड जर्नल में विशेषज्ञों का विवेचनात्मक सम्पादकीय भी है जिसमें मेयो क्लिनिक के परिणाम को सही माना है। शोधकर्ताओं ने अपने पत्र में लिखा है कि रोगियों के हित में यह श्रेयकर होगा अगर कैंसर जैसे असाध्य रोगों में किसी लाभदायक परिणाम का दावा, निष्पक्ष और वैज्ञानिक विधि द्वारा जब तक अन्य लोगों द्वारा सिद्ध न हो जाये, सार्वजनिक रूप से प्रचलित न किया जाये।

गर्भ, गर्भपात

अवैध गर्भपात

गर्भपात को 1972 मे वैधानिक मान्यता क्या प्राप्त हुई ऐसा लगता है कि गर्भपात के नाम पर महिलाओ के जीवन से खेलने की खुली छूट मिल गई है। हालांकि सरकारी कथन के अनुसार परिवार नियोजन के लिए गर्भपात मान्य नही है लेकिन वास्तव में जनसंख्या कम करने के उत्साह में आंखें मूंद कर इसे जो बढ़ावा दिया जा रहा है उससे बलि चढ़ती महिलाओं की ओर ध्यान तक नही जाता।

गर्भपात को वैधानिक मान्यता प्रदान करने के पीछे ध्येय था "उन लाखों महिलाओं की रक्षा जो अन्यथा नीम हकीम अथवा अक्षम डाक्टरों के हाथो चोरी से गर्भपात करवाकर दुर्गति को प्राप्त होती।"

बढ़ते अवैध गर्भपात—उपरोक्त सरकारी ध्येय के विपरीत गर्भपात को वैधानिक मान्यता प्राप्त होने के बाद अवैध गर्भपात की दर और संख्या बढ गई हैं। इस विषय में चिकित्सा विज्ञान की पत्रिकाओं में अनेक लेख छपे है। एक विशेषज्ञ के अनुसार "जहां 1978–79 मे भारत मे 3,12,800 वैधानिक गर्भपात करवाये गये वहीं अवैधानिक गर्भपात की अनुमानित संख्या 40 से 60 लाख प्रति वर्ष है अर्थात् प्रति एक वैधानिक गर्भपात के अनुपात में 15 से 20 अवैध गर्भपात भारत में होते है।"

अवैध गर्भपात के भयंकर परिणाम—अवैध गर्भपात केवल संख्या में बढ़ ही नही रहे वरन् स्त्री रोग एवं प्रसूति की भारतीय पत्रिका में प्रकाशित सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार उसके भयंकर परिणाम दिल दहलाने वाले है।

मुर्शिदाबाद से प्रकाशित तीन अवैध गर्भपात की रिपोर्ट में एक महिला के पेट से पांच इंच लम्बी लोहे की यह कील ऑपरेशन कर पेट से निकाली गई जिससे गर्भपात करवाया गया था। कील गर्भाशय को छेद कर मलाशय को भेद चुकी थी, जहां से रक्त स्राव हो रहा था। दूसरी महिला के पेट से ग्यारह इन्च लम्बी बह बास की खपच्ची निकाली गई जिससे गर्भपात करते समय गर्भाशय छेद दिया गया था

और जिसके कारण से गम्भीर संक्रमण से आंत गर्भाशय के चारों ओर चिपक गई थी और तीसरी महिला के मामले में गर्भपात करवाने वाले ने गर्भाशय को ही नहीं छेदा वरन् बड़ी आंत को इतना नुकसान पहुंचाया कि पेट के अन्दर सर्वत्र मल इकठ्ठा हो गया था।

मद्रास मेडिकल कॉलेज से प्रकाशित रिपोर्ट में महिला के पेट से स्टील का आठ इन्च लम्बा हैगर्ड डाइलेटर नामक उपकरण निकाला गया। गर्भाशय के मुंह को चौड़ा करने के काम आने वाला यह उपकरण गर्भाशय को भेद कर अन्दर डाल दिया गया था।

रांची से प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार दाई द्वारा लकड़ी की खरपच्ची से करवाये गर्भपात के फलस्वरूप गैस गैंग्रीन होकर महिला की भयानक मृत्यु हुई।

घातक गर्भपात पेस्ट "फोटेक्स पेस्ट"

इन्दौर मेडिकल कालेज से प्रकाशित एक लेख में तीन उन मरीजों का वर्णन किया गया है जिसमें लाइसेन्स के तहत निर्मित फोटेक्स पेस्ट से गर्भपात करवाने के भयानक परिणाम हुये। दो महिलायें मर गईं और तीसरी महिला बच तो गई लेकिन उसके योनि और गर्भाशय का एक भाग पेस्ट के असर से गलकर गिर गया और उसके गुर्दों ने कार्य करना बन्द कर दिया।

तंजावूर मेडिकल कालेज से प्रकाशित एक सर्वे में पाया गया कि सैप्टिक अवैध-गर्भपात से भर्ती होने वाले मरीजों में 40 प्रतिशत ने यह पेस्ट काम में लिया और उसमें से अधिकांश या तो मर गई या जीवन-भर के लिए अपंग हो गई।

विडम्बना तो यह है कि अवैध गर्भपात कर महिलाओं की हत्या करने वाले इन लोगों को पकड़ने या उनके खिलाफ कानूनी कार्यवाही करने की कोई चेष्टा नहीं की गई। घातक पेस्ट के बारे में यह सवाल तक नहीं उठाया गया कि उसको लाइसेन्स कैसे मिला, कैसे यह इतने वर्षों तक बिकती रही और अभी बिक रही है।

अवैध गर्भपात कितना घातक

"वैध गर्भपात शल्य-क्रिया की सबसे सुरक्षित विधि है जिसकी मृत्यु दर हर 1,00,000 गर्भपात में अमेरिका में 1·4, कनाडा में 2·1 और इंग्लैंड में 3·0 है।"

इसके अनुपात में "विकासशील देशों में अवैध गर्भपात से होने वाली दर 50 से 100 प्रति लाख गर्भपात है।"

भारत के चिकित्सालयों में गर्भपात से उत्पन्न व्याधियों के लिए भर्ती होने वाली महिलाओं में जिनमें अधिकांश में अवैध गर्भपात करवाया जाता है 46·5 (मदुराई रिपोर्ट), से 306·7 (बड़ोदा रिपोर्ट) तक मृत्यु को प्राप्त हुई।"

हालत यह है कि आज गर्भ जनित व्याधियों से मरने वाली प्रति पांच महिलाओं में से एक महिला गर्भपात की बलि चढ़ती है ।

अवैध गर्भपात सर्वत्र

विशेषज्ञों के अनुसार "गर्भपात को वैध करने से पहले अवैध गर्भपात कुछ लोग कहीं-कहीं करते थे, लेकिन वैधता पाने के बाद तो अब अवैध गर्भपात सर्वत्र होते हैं, कारण लोगों का मानना है कि कानून सभी को गर्भपात करने की अनुमति देता है ।"

गर्भपात सम्बन्धी शोध

सवाई मानसिंह मेडिकल कालेज, जयपुर की दो छात्रा कुमारी नूपुर लोरिया और कुमारी अर्पिता भार्गव ने भारतीय स्त्री रोग एवं प्रसूति पत्रिका के 1984–85 के अंकों में प्रकाशित गर्भपात सम्बन्धी शोध पत्रों के आंकड़ों का संकलन किया है । तथ्य चौंकाने वाले हैं ।

ग्यारह प्रकाशित शोध पत्रों में 4–6 महीने गर्भस्थ 2303 महिलाओं पर गर्भपात करवाने की विभिन्न विधियों का प्रयोग कर परिणामों का अध्ययन किया गया ।

एक शोध कर्ता ने 250 महिलाओं के गर्भ मे विशुद्ध (डिस्टील) जल डालकर गर्भपात करवाया, दूसरे ने 500 के गर्भ में नमकीन पानी डालकर गर्भपात करवाया, तीसरे ने 25 में यूरिया और प्रोस्टाग्लेंडिन का प्रयोग किया, चौथे शोध कर्ता ने 320 महिलाओं में सक्सन एवेकुएशन विधि अपनाई, पांचवें ने मांस-पेशियों में प्रोस्टाग्लेंडिन इन्जेक्शन और साथ में गर्भाशय के मुख को चौड़ा करने की विधि का 200 गर्भवती महिलाओं में प्रयोग किया ।

इसी प्रकार 120 अन्य महिलाओं में प्रोस्टाग्लेंडिन इन्जेक्शन और डाइलेटेशन 200 महिलाओं में प्रोस्टाग्लेंडिंग और कैथेटर, 62 में योनि मे प्रोस्टाग्लेंडिन, 120 में गर्भाशय के मुंह से नमकीन पानी और 120 में उसी प्रकार कैथेटर डालकर गर्भपात करवाये ।

सवाल यह है कि गर्भस्थ महिलाओं में इन सब प्रयोगो का औचित्य क्या था ? प्रकाशित तथ्यों से जाहिर है कि इस प्रकार के मानव प्रयोगों के पहले आवश्यक वैज्ञानिक पहलुओं पर विचार नही किया गया । फलस्वरूप यह सभी अध्ययनो के परिणाम का कोई उपयोग नही किया जा सकता । फिर क्यो महिलाओं के जीवन के साथ व्यर्थ का खिलवाड़ किया गया ? ऐसे प्रयोग करने से पहले शोध कर्ताओं को एक उच्च स्तरीय ऐथिकल कमेटी से मंजूरी लेनी होती है । शोध कर्ताओं ने ऐसा आवश्यक नही समझा । साथ ही ऐसे प्रयोग करने से पहले हर महिला से उसे पूरी

तरह समझाने के बाद लिखित इसकी सहमति लेनी होती है। इसे भी शोध कर्ताओं ने आवश्यक नहीं समझा। दुर्भाग्यपूर्ण बात तो यह है कि मेडिकल काउंसिल ऑफ इण्डिया और इण्डियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च या तो स्वयं इसमें भागीदार हैं या फिर जान-बूझकर अज्ञान बनी हुई है।

यह सभी प्रयोग और अध्ययन जब पहले हो चुके हैं और उनके निष्कर्ष सर्व-विदित है फिर क्यों निरर्थक इनको दोहराकर महिलाओं का जीवन खतरे में डाला जा रहा है?

ऐसा प्रतीत होता है कि जनसंख्या कम करने के अपने उत्साह में हम इतने अन्धे हो गये है कि गर्भपात के नाम पर देश में किसी को कुछ भी करने की स्वतन्त्रता है। गर्भ की उपेक्षा करते-करते हम आज माँ और मातृत्व को भी मनचाहा मानने लगे हैं।

मानव जीवन की यह घोर उपेक्षा कैसे भविष्य की द्योतक है, अनुमान लगाया जा सकता है।

ऋतुस्राव संलक्षण

महिलाओं मे ऋतुस्राव-पूर्व नियत-कालिक मासिक मानसिक तनाव व शारीरिक व्याधियां अर्ध-शताब्दी से सूक्ष्म वैज्ञानिक विश्लेषण एवं शोध का विषय रही है। व्याधि-जनक दोष, विकार और लक्षण सम्बन्धी व्यापक शोध के फलस्वरूप इस व्याधि को प्रागार्तव संलक्षण या ऋतुस्राव-पूर्व संलक्षण (प्रीमेन्स्ट्रुअल सिन्ड्रम) नामक निदान एवं उपचार साध्य विशिष्ट रोग माना गया है।

मानसिक-शारीरिक दोनों व्याधियाँ

इस व्याधि के लक्षण है सिर दर्द, स्तनों की सूजन, पेट फूलना अथवा आना, हाथ-पांवों पर सूजन, क्लान्ति, अवसाद, चिड़चिड़ापन, मानसिक तनाव, प्यास और भूख, मीठे या नमकीन की लालसा तथा पित्ती और मलबंध।

मानसिक व शारीरिक दोनो ही विकार अधिकाश महिलाओं में असाधारण लेकिन कुछ में गम्भीर रूप से होते है। रोगजनित आचरण परिवर्तन से आपसं तनाव, विवाहित जीनन में कटुता, बच्चों को पीटना, आत्महत्या, दुर्घटना और सामान्य से लेकर हत्या तक अपराध घटित होते है।

कल-कारखाने और व्यावसायिक संस्थानों में कार्यरत महिलाओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। प्रागार्तव संलक्षण व्याधि के कारण इन संस्थानों मे अनुपस्थिति एक गम्भीर विचार का विषय बन गया है। अमेरिका के एक बड़े औद्योगिक

संस्थान में जिसमें 1500 महिलायें कार्यरत थी, एक सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि 36 प्रतिशत महिलायें ऋतुस्राव-पूर्व समय मे तनाव-शामक औषधियां लेती थी। "मेडिकल क्लिनिक्स ऑफ नार्थ अमेरिका" नामक पत्रिका में प्रकाशित एक लेख के अनुसार अमेरिका मे मात्र एक साल (सन् 1969) में ऋतुस्राव-पूर्व संलक्षण के कारण अनुपस्थिति से अनुमानित क्षति पचास करोड़ डालर थी।

सर्वेक्षण के परिणाम

लन्दन के प्रागार्तव संलक्षण चिकित्सालय में कार्यरत इस विषय की ख्याति प्राप्त विशेषज्ञ डॉ० केथरिना डाल्टोन ने सर्वेक्षण कर यह पुष्टि की है कि आकस्मिक मानसिक विकार, आत्महत्या के प्रयास, मारपीट, हिंसक अपराध और दुर्घटनायें, महिलाओं में ऋतुस्राव पूर्व समय में महत्त्वपूर्ण मात्रा में अधिक होती है।

केन्या के नेरोबी की एक अन्य रिपोर्ट अनुसार केरोसिन तेल छिड़ककर आग से आत्महत्या करने वाली 21 भारतीय महिलाओं में से 19 ऋतुस्राव में थी और बाकी दो गर्भावस्था में।

इसी प्रकार एक मानसिक अस्पताल से प्राप्त रिपोर्ट के अनुसार वहा हुई 200 हिंसक वारदातें करने वाली महिलाओं में से 189 ऋतुस्राव-पूर्व समय में थी।

इंग्लैंड में कुछ समय पूर्व हत्या, हिंसा और लूट के तीन मामलों मे प्रागार्तव-संलक्षण को अल्पसामयिक मानसिक विकार का कारण माना गया। जिसका लाभ न्यायालयों ने महिला अपराधियों को दिया। फ्रांस में प्रागार्तव-संलक्षण को अल्प-सामयिक मानसिक असन्तुलन के रूप में न्यायिक मान्यता प्राप्त है। हाल ही में अमेरिका में बोस्टन में भी इसे एक मामले मे सफलता से प्रेषित किया गया है।

उपचार सम्भव है

इस रोग से गम्भीर रूप से प्रभावित महिलाओं का उपचार, डॉ० डाल्टोन प्राकृतिक "प्राजेस्ट्रोन हार्मोन" देकर करती है। तीन ऐसी हिंसक और सजायाफ्ता अपराधी महिलाओं का सफल उपचार इसी हार्मोन से करके डाक्टर डाल्टोन ने उन्हे अपराध प्रवृत्ति से मुक्ति दिलाई है। शरीर मे अधिक पानी जमा होने से उत्पन्न स्तन सूजन, पेट का आफरा और हाथ-पाव की सूजन के लिए मूत्रल औषधिया दी जाती है। कुछ मरीजों में विटामिन बी-6 भी कारगर सिद्ध हुआ है। साधारण मानसिक लक्षण क्लान्ति, अवसाद और चिड़चिड़ेपन के उपयुक्त तनाव शामक अन्य औषधिया दी जाती है।

प्राकृतिक जन्म या सीजेरियन

रोम के श्रेष्ठ वीर पराक्रमी योद्धा जूलियस सीजर का जन्म उसकी मां क पेट चीर कर हुआ था । शायद इसी आधार पर गर्भाशय को चीर कर जन्म की इ शल्य विधि को आज सीजेरियन सेक्शन या सीजेरियन डिलीवरी कहते हैं । लेकिन हाल ही में प्रकाशित अनुसन्धान के नतीजे अगर सही है, तो शायद ऐसा जन्म महा-कायरतापूर्ण जन्म है । इस विधि से जन्मे बच्चे संघर्ष मे अक्षम और निरीह होते है ।

विज्ञान की विख्यात पत्रिका 'साइंटिफिक अमेरिकन' में प्रकाशित एक विस्तृत अध्ययन के विवरण के अनुसार यह पाया गया है कि प्राकृतिक जन्म के दौरान होने वाली प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बच्चे के शरीर में कैटाकोलीमिन नाम अंतःस्रावी रसों के स्राव से बच्चे के फेफड़ों की कार्यक्षमता, हृदय की गति और हृदय और मस्तिष्क के रक्त प्रवाह में जो व्यापक परिवर्तन होते है, वे नवजात शिशु को जन्मोपरांत संभावी विपदाओं से जूझने के लिए क्षमता प्रदान करते हैं ।

सीजेरियन डिलीवरी या पेट चीर कर बच्चे का जन्म आज काफी आम हो गया है और हर देश मे इसका प्रचलन बढ़ रहा है । अमेरिका में कुछ वर्ष पूर्व सीजे-रियन की जन्म दर जहां 5 प्रतिशत ही थी, अब बढ़कर 15 से 20 प्रतिशत हो गयी है । हमारे देश मे भी इसका प्रचलन खूब बढ़ गया है ।

भारत की एक पत्रिका में प्रकाशित शोध पत्रों के अनुसार इलाहाबाद मेडि-कल कॉलेज में सीजेरियन ऑपरेशन की दर 1955–59 में 26 प्रति 1000 प्रसव थी, जो 1975–80 मे बढकर 125 प्रति 1000 प्रसव हो गयी । इंफाल मेडिकल कॉलिज मे 1972–78 मे 36/1000 की दर 1979–82 मे 69/1000 हो गयी । बम्बई के के ई. एम. अस्पताल मे 19/1000 से बढ़कर 50/1000 हो गयी । कलकत्ता के मेडिकल कॉलिज अस्पताल मे 1980–82 मे यह दर 131/1000 प्रसव थी ।

गर्भावस्था के आखिरी माह में प्रसव से पूर्व गर्भस्थ शिशु को अगर किसी कारण खतरा उत्पन्न हो जाता है, तो शल्य चिकित्सक पेट चीर कर बच्चे का जन्म करा देते है । बच्चे को खतरे के लक्षण ऑपरेशन का संकेत माने जाते हैं । कुछ और भी कारण से सीजेरियन ऑपरेशन किया जाता है, लेकिन अधिकांशतः गर्भस्थ शिशु को खतरा (फीटल डिस्ट्रेट) ही इसका कारण होता है । और गर्भस्थ शिशु के खतरे का बाहरी लक्षण माने जाते हैं, बच्चे की हृदय गति में कमी और गड़बड़ी ।

गर्भ में शिशु के फेफड़े काम नही करते । कारण, गर्भस्थ शिशु एम्नियोटिक फ्लूइड नामक तरल पदार्थ में डूबा रहता है । इसके रक्त का शुद्धिकरण व आक्सी-करण प्लेसेंटा (अपरा) के आरपार मां के रक्त मे होता है । प्राणवायु (आक्सीजन)

की कमी होने पर गर्भस्थ शिशु की हृदय गति में परिवर्तन आ जाता है और उसकी जान पर आ बनती है।

अमेरिका में उत्तरोत्तर बढ़ते सीजेरियन के चलन से चिंतित शोध कर्ताओं ने अन्वेषण शुरू किया। सीजेरियन से जन्मे हुए बच्चे का पूर्ण परीक्षण किया गया, जिसमें आक्सीजन की कमी से उत्पन्न खतरे के कारण गर्भस्थ शिशु की हृदय गति में कमी और परिवर्तन के आधार पर ही ऑपरेशन किया था। रक्त परीक्षण आदि के बाद आश्चर्यजनक तथ्य सामने आये कि ऐसे जन्मे बच्चे में से 50 प्रतिशत में आक्सीजन की कोई कमी नही थी, अर्थात् उसमें सीजेरियन ऑपरेशन का आधार ही गलत था। इतना बड़ा ऑपरेशन व्यर्थ ही किया गया।

इसी तथ्य के आधार पर आगे अन्वेषण शुरू हुआ। जानवरों पर अनेक प्रयोग व गर्भावस्था, प्रसव और प्रसवोपरांत अनेक परीक्षण किये गये। जो तथ्य सामने आये, उनका निष्कर्ष था कि प्राकृतिक जन्म ही शिशु, माता और उनमें पारस्परिक सम्बन्धों के लिए श्रेष्ठ है।

शोधकर्ताओं ने पाया कि प्रसव की प्रगति के साथ-साथ बच्चे के शरीर में उसकी एड्रीनल नामक ग्रंथियों से केटाकोलामिन विशेषकर नोरएड्रीनिलिन, नामक हारमोन का स्राव उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में होता है। नोरएड्रेनलिन के प्रभाव से बच्चे के शरीर में निम्न परिवर्तन होते हैं—

1. फेफड़ों के वायुकोषों में व्याप्त तरल पदार्थ बनना बन्द हो जाता है और इसमें स्थित पदार्थ अवशोषित हो जाता है, फलतः वायुकोष जन्मोपरांत सांस लेने पर खाली मिलते हैं। साथ ही फेफड़ों का लचीलापन बढ़ जाता है और वायु लेने वाले मार्ग खुल जाते हैं।

2. हृदय और मस्तिष्क की रक्तवाहिनी नलियां विशेष रूप से चौड़ी हो जाती है और शरीर के शेष सभी भाग की नलियां संकुचित हो जाती हैं। इसके फलस्वरूप शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा रक्त वितरण की मात्रा हृदय और मस्तिष्क को बढ़ जाती है ताकि इन नाजुक अंगों पर आक्सीजन की कमी का असर न पड़े।

3. हृदय गति धीमी हो जाती है। उसके स्वयं के कार्य के लिए आक्सीजन की आवश्यकता भी कम हो जाये। फलस्वरूप नवजात शिशु के फेफड़े जब तक कार्य करना शुरू न करें, तब तक आक्सीजन की कमी के दौरान हृदय को कोई क्षति नहीं होती।

4. शिशु के शरीर में संचित ऊर्जा के सभी स्रोत से रूपांतर होकर ग्लूकोस और फेटी ऐसिडस रक्त में इकट्ठे हो जाते हैं, ताकि विपदा के समय ईंधन का समुचित भण्डार सहज ही उपलब्ध हो।

सीजेरियन से जन्मे बच्चों में, गर्भ के सुरक्षित तरल वातावरण से खुले शुष्क वातावरण में स्थानांतरण, मात्र कुछ क्षणों में होने के कारण यह प्रक्रिया नहीं होती। इसी कारण जन्मोपरांत विषम परिस्थितियों से निपटने की क्षमता उनमें कम होती है। जिन बच्चों की गर्भ के दौरान उत्पन्न खतरे से बचाने के लिए ऑपरेशन किया गया, अगर उन्हीं से बचने की क्षमता आपरेशन से जन्म लेने के कारण कम हो जाये तो ऑपरेशन का प्रयोजन ही काफी हद तक विफल हो गया।

प्रसव की प्रक्रिया बच्चे के लिए दुखदाई होती है, यह धारणा एक मिथक साबित हुई है। एक श्रीमान् ने एक फोटोग्राफर द्वारा प्राकृतिक प्रसव से जन्मे और सीजेरियन से जन्मे बच्चों के जन्म के कुछ ही मिनटों बाद, चित्र खिचवाये। बच्चों की आंखों की पुतलियों और चेहरे के हावभाव के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि प्राकृतिक रूप से जन्मे बच्चे कहीं अधिक चुस्त, चैतन्य और तृप्त थे।

इसमें कोई शक नहीं है कि सीजेरियन ऑपरेशन उपयुक्त हालात मे बच्चे या मां की जीवन रक्षा के लिए आवश्यक होते है। लेकिन ज्यों-ज्यों एनेस्थेशिया और मरीजों की देखभाल के साधन बेहतर होने से सीजेरियन ऑपरेशन मे खतरा कम होता गया, वैसे-वैसे यह ऑपरेशन अब उत्तरोत्तर अधिक कारणो से किया जाने लगा। क्योंकि प्राकृतिक प्रसव से जन्म का समय निश्चित नहीं किया जा सकता और चूंकि महिला के सम्बन्धी यही अपेक्षा करते है कि प्रसव के समय वरिष्ठ डाक्टर स्वय मौजूद रहे, अतः अनेक बार समय की सुविधा के लिए भी यह ऑपरेशन किया जाने लगा है। यह ऑपरेशन ही नहीं, प्रसव शुरू करवाने की अन्य चिकित्सा विधियां भी अधिकाधिक महिलाओं में उपयोग होने लगी। प्राकृतिक प्रसव के लिए ऐसा लगता है कि न डॉक्टरों के पास समय है, न माताओं के पास संयम। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि गर्भ और प्रसव जैसी प्राकृतिक प्रक्रियाओं को भी आज एक रोग के रूप में लिया जाता है और एक रोग की तरह उसका डॉक्टरो द्वारा अस्पताल मे उपचार होता है। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि 'रोग' से शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति पाने के लिए सभी उत्सुक और सक्रिय हों।

लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रसव शुरू करने की चिकित्सा विधि हो अथवा सीजेरियन ऑपरेशन, यह हानि रहित नहीं है। इसके स्वयं के खतरे है, इनके कारण व्याधियां उत्पन्न होती है और मरीज मरते भी है। अतः यह आवश्यक है कि इनका उपयोग ठोस कारण होने पर ही किया जाये। इनका अन्धाधुन्ध प्रयोग खतरनाक है, खासकर अपने देश मे जहां अकुशल लोगों के हाथो इन विधियों से होनेवाले नुकसान का न सुचारु रूप से अध्ययन होता है और न विवेचन।

शल्य चिकित्सा की प्रसव और जन्म सम्बन्धी विधियों के बढ़ते उपयोग से नवजात शिशु की मृत्युदर में कितनी कमी आयी है, यह एक विवाद का विषय है।

टी. एन. मेडिकल कॉलिज, बम्बई के नायर अस्पताल में 1978 से जून 1980 तक 4840 बच्चों का जन्म हुआ, जिनमें से तीन सौ का जन्म सीजेरियन ऑपरेशन से हुआ। इस दौरान कुल 145 बच्चे जन्म के ठीक बाद मर गये, जिनमें से बारह बच्चे सीजेरियन द्वारा हुए थे अर्थात् जहां नवजात शिशुओं की औसत मृत्युदर तीन प्रतिशत थी, वहीं सीजेरियन द्वारा हुए बच्चों की चार प्रतिशत। आधुनिक साधनों की उपलब्धि से देश में सीजेरिन ऑपरेशन से महिलाओं की मृत्यु दर में काफी कमी आयी है और अब यह 8 प्रतिशत से घट कर लगभग 2 प्रतिशत रह गयी है। फिर भी हर 100 महिलाओं में से जिनमें सीजेरियन किया जाता है, 2 की मृत्यु काफी अधिक है। इसके अतिरिक्त प्रकाशित शोधपत्रों के अनुसार हर 100 महिलाएं, जिनमें सीजेरियन किया जाता है, उनमें से 1 महिला का ऑपरेशन जनित कांपलीकेशन के कारण गर्भाशय निकालना पड़ता है फिर जिनमें एक बार सीजेरियन होता है, उन्हें दोबारा भी सीजेरियन ही कराना पड़ता है और यह बढ़ रहा है। मणिपुर से प्रकाशित शोधपत्र में 10 वर्षों में 1108 सीजेरियन में से 93 ऐसी महिलाएं थी, जिनमें सीजेरियन दोबारा हुआ था। इसके अतिरिक्त सीजेरियन एक बड़ा ऑपरेशन होने के कारण रक्त स्राव और इंफैक्शन (संक्रमण) के परिणाम भी महिलाओं को भुगतने पड़ते हैं।

अस्थानिक गर्भ

प्रसूति एवं स्त्री रोग की भारतीय पत्रिका मे हाल ही में प्रकाशित एक लेख के आंकड़े चौंकाने वाले हैं। दिल्ली के लेडी हार्डिंग मेडिकल कॉलिज में एक वैज्ञानिक सर्वेक्षण किया गया। स्त्री रोग विभाग में क्रमशः आने वाली 1663 महिलाओं की गोनोरिया (सूजाक) के रोगाणुओं की उपस्थिति विशेष परीक्षण द्वारा आंकी गई। 7.57 प्रतिशत महिलाओ में यानि हर 12 में से 1 में गोनोरिया पाया गया। महिलाओं में गोनोरिया अक्सर लक्षणविहीन होता है, और इस सर्वेक्षण में भी 37 प्रतिशत महिलाओं मे इसके कोई लक्षण नही थे। महिलाओं में लक्षणविहीन गोनोरिया संचारण की संभावना के अतिरिक्त यह अवस्था चिंताजनक है—कारण ऐसी लक्षण विहीन महिलाओं में जननेन्द्रियो के किसी आपरेशन अन्यथा अन्दरूनी हस्तोपचार पर सुषुप्त संक्रमण घातक रूप धारण कर सकता है।

आपरेशन उपरांत जननेन्द्रियों का सुषुप्त संक्रमण कैसे घातक रूप में भड़क उठता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करता है उदयपुर मेडिकल कॉलेज से प्रकाशित एक शोध पत्र जिसमें 1052 महिलायें जिनमें योनिपथ द्वारा दूरबीन से नसबन्दी की गई थी, उनमें से 144 को इतना भयानक संक्रमण एवं शोथ हुआ कि उनमें से 17 महिलाओं में इसके कारण गर्भाशय को निकालना पड़ा।

शोध पत्र की लेखिका डॉ० विनायक पेंडसे और उनकी सहयोगी डॉक्टरों के अनुसार, "योन रोग एवं जननेन्द्रियों के अन्य संक्रमण की आघटन दर उदयपुर

और निकटस्थ आदिवासी क्षेत्र मे अपेक्षाकृत अधिक है। आपरेशन के बाद संक्रमण का गम्भीर रूप धारण करना अन्यथा अन्य ऊपरी संक्रमण होना एक आम तथ्य था।"

ऐसे संक्रमण की आशंका हर ऐसी कार्यवाही जैसे लूप लगाना, गर्भपात आदि के बाद बढ़ जाती है। शिथिल संक्रमण और शोथ से भी डिम्बवाहिनियों में ऐसी रुकावट उत्पन्न हो सकती है कि वहां अस्थानिक गर्भ ठहर जायें। आज देश में जहां लाखों लूप लगाये जाते हैं, और लाखों ही गर्भपात करवाये जाते हैं वहां आश्चर्य नही कि आज घातक अस्थानिक गर्भ एक महामारी के रूप में उजागर हुआ है। मेडिकल कॉलेज अस्पतालों से प्रकाशित शोध पत्रों से इसकी व्यापकता का अनुमान लगता है। लेकिन इससे भी अधिक चिन्ता का विषय है जयपुर मेडिकल कॉलेज के जनाना अस्पताल से डॉ० अन्जु टाली और उनके सहयोगियों द्वारा प्रकाशित एक शोध पत्र के आंकड़े। अस्पताल मे 1977 से 1980 तक 144 रोगी अस्थानिक गर्भ (एक्टोपिक प्रेग्नेंसी) की भर्ती हुई जिनमे 12 ऐसी महिलायें थी जिनमे डिम्बवाहिनी बन्दीकरण आपरेशन हो चुका था। बन्दीकरण के बाद डिम्बवाहिनी मे गर्भ होना बड़ा अप्रत्याशित है।

जयपुर की इन स्त्री रोग विशेषज्ञ डॉक्टरों की रिपोर्ट के अनुसार "सामूहिक डिम्बवाहिनी बन्दीकरण प्रोग्राम ने श्रोणि शोथ एवं अस्थानिक गर्भ की सम्भावनाओं में बढ़ोत्तरी की है। अनुमानतः यह गलत तकनीक या डिम्बवाहिनी के सिरे वापस जुड़ जाने के कारण होता है।"

डिम्बवाहिनी में अस्थानिक गर्भ आमूमन घातक सिद्ध होता है। गर्भस्थ महिलाओ मे यह मृत्यु का एक प्रमुख कारण है। आधुनिक शल्य चिकित्सा के अभाव से मृत्यु दर अत्यधिक बढ़ जाती है। देश में सामूहिक, संघन डिम्बवाहिनी बन्दीकरण प्रोग्राम में शल्य चिकित्सा के तकनीकी स्तर में शिथिलता या गिरावट के फलस्वरूप घातक अस्थानिक गर्भ दर में प्रकाशित वृद्धि गम्भीर वास्तविकता की ओर संकेत करती है।

गर्भधारण गर्भाशय मे होता है, यह इतना सर्वविदित तथ्य है कि इसका ध्यान ही नही रहता कि शुक्राणु (स्पर्म) और डिम्ब (ओवम) का मिलन (निषेचन/फर्टिलाईजेशन) गर्भाशय मे नही वरन् उन दो मे से एक डिम्बवाहिनी नलिका मे होता है जिनसे चलकर डिम्ब, डिम्बग्रन्थि से गर्भाशय तक पहुंचता है। योनि में वीर्य स्खलन के बाद हजारो शुक्राणु चलकर गर्भाशय से होते हुए डिम्बवाहिनी नली मे पहुंचते हैं जहां डिम्ब के उपस्थित होने की अवस्था मे मात्र एक शुक्राणु डिम्ब के अन्दर प्रविष्ट हो पाता है।

शुक्राणु के डिम्ब में प्रवेश करते ही, डिम्ब मे तीव्र गति से प्रक्रिया चालू हो जाती है। मात्र एक कोशिका का डिम्ब तीव्र गति से दो, दो से चार, चार से आठ क्रम में विभक्त होना शुरू हो जाता है। उस विभाजन मे बनी नई कोशिकाओं का अन्दाज इससे लगा सकते है कि मात्र पच्चीस विभाजन के बाद एक कोशिय डिम्ब से एक करोड़ साठ लाख नई कोशिकाओं का निर्माण हो जाता है।

इन तीव्र गति से बनती कोशिकाओं के निर्माण के लिए पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है जो कोशिकाओं के इस गेंदनुमा गुच्छे को आरम्भ मे डिम्बवाहिनी नली और गर्भाशय में स्थित पोषक द्रव्य से प्राप्त होते है, लेकिन ज्यों-ज्यों कोशिकाओं का नम्बर बढ़ता है मध्य स्थित कोशिकाओं तक पोषक तत्व विसरित होकर नही पहुंच पाते है।

अतः कोशिकाओं के गुच्छे की सतह पर नई क्षमता प्राप्त ऐसी कोशिकायें उत्पन्न हो जाती है जिनके सम्पर्क में आने वाला तन्तु नष्ट हो घुल जाता है। इसके फलस्वरूप कोशिकाओं का गुच्छा गर्भाशय की अन्दरूनी सतह से अन्दर घुस जाता है और वहाँ की रक्त नलिकाओं के खुलने से जो रक्त बाहर आता है उससे सीधा पोषण प्राप्त कर लेता है। इन्हीं विशिष्ट कोशिकाओं से आगे चलकर प्लेसेन्टा (अपरा) का निर्माण होता है जो भ्रूण का पोषण करता है।

भ्रूण आगमन की अपेक्षा मे गर्भाशय की अन्दरूनी सतह हारमोन्स के प्रभाव से पोषण तत्वों से भरी असंख्य ग्रन्थियों, घुमावदार रक्त वाहिनियों और कोशिकायें एक मोटे कार्पेट से ढक जाती है। वैसे भी गर्भाशय की भित्ती मोटी मांस पेशियों की बनी होती है। भ्रूण वृद्धि के साथ फैलते गर्भाशय की भित्ति उत्तरोत्तर पतली होते हुए भी काफी मोटी रह जाती है।

सर्वनाश की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब निषेचन उपरान्त तीव्र गति से कोशिकाओं का गुच्छा बनने वाला डिम्ब, डिम्बवाहिनी में रुकावट के कारण गर्भाशय की ओर नही जा पाता। रुके हुये भ्रूण की सतह की कोशिकाओं की ध्वंसात्मक प्रवृत्ति विकसित होती रहती है। फलस्वरूप भ्रूण स्थापित तो हो जाता है लेकिन मोटी भित्ति वाले गर्भाशय में नही, वरन् पतली भित्ति वाली डिम्बवाहिनी नलिका मे। क्रमशः बढ़ते भ्रूण के साथ वाहिनी भित्ति पतली होती जाती है। दो महीने गुजरते-गुजरते फट पड़ती है। भीतर रक्त स्राव शुरू हो जाता है।

महिला जिसे पिछला ऋतुस्राव नही हुआ था, या जिन्हें दो महीने का गर्भ था, हठात पेट के निचले भाग में तीव्र वेदना से छटपटाने लगती है। चेहरा जर्द हो जाता है। नाड़ी की गति बढ़ती जाती है, रक्तचाप गिरता जाता हैं, और यह सब होता है

फूटी हुई डिम्बवाहिनी से होते रक्तस्राव के कारण। अगर तुरन्त निदान और आप-रेशन की सुविधा न हो और उसी वक्त आपरेशन न किया जाये तो अंदर होते रक्तस्राव से महिला की मृत्यु शीघ्र ही अवश्यम्भावी है।

ग्रामीण आंचल में वन्दीकरण उपरान्त महिला में गर्भ धारण (अस्थानिक) और उससे उत्पन्न रक्त-स्राव का निदान और चिकित्सा प्रायः असंभव है। प्रकाशित तथ्य दर्शाते हैं कि वन्दीकरण, लूप लगाने आदि में तकनीकी अकुशलता के फलस्वरूप अस्थानिक गर्भ की आघटन मात्रा बढ़ गयी है। कितनी ग्रामीण महिलायें उसकी बलि चढ़ती है—विचारणीय है।

पथरी रोग

यह शरीर भी एक विचित्र कारखाना है जिसमें तरह-तरह के पत्थर बन सकते है और नगीनों की तरह तराशे भी जा सकते । अपने आकार, प्रकार, बनावट, रंग, पालिश और विविधता मे यह नगीनों से कम नही । हीरे, पन्ने और पुखराज की तरह चमकते और तराशे हुए, मोती और मूंगे की चमकती पालिश वाले, हर तरह के पत्थर शरीर मे बनते है । फर्क बस इतना है कि इनका होना सदा दुःखदायी होता है और इनको खोने के लिए कीमत चुकानी होती है ।

पिशाब की थैली में बनने वाली पथरियां

चित्र नं० 1. क 2. मे दिखाए गए पत्थर पिशाब की थैली में से निकाले गए है । पेपरवेट या मुट्ठी जितने बड़े आकार में पाये जाते है । एक से अधिक अमूमन नही होते, लेकिन चित्र नं. 2 में दिखाए गए 133 पत्थर एक साथ एक रोगी को पिशाब की थैली में से 'कुआमन सिटी' में निकाले गए थे । हर पत्थर राजा महा-राजाओं की चौपड़ के हाथी दांत के बने पांसों की तरह सफेद और चौकोर, आधे से एक इन्च के बराबर ।

पिशाब की थैली में बनी पत्थरी हमारे देश में आम है । विकसित देशों में अब नही होती । एक साल से पांच साल तक के बच्चों में होती है और एक बार आप-रेशन के बाद फिर नही बनती । क्यों बनते हैं और फिर वापस क्यों नही बनते, यह पुख्ता रूप से नही मालूम । पिशाब करते वक्त रोना, इन्द्री को मसलना और पेट के बल सोना, इसके लक्षण होते हैं । आर्थिक विकास और स्वच्छता के साथ यह स्वयं ही बनना बन्द हो जाती है । चित्र 1ख में दिखाई गई पथरी पिशाब की थैली में बनी थी लेकिन आपको जानकर ताज्जुब होगा कि यह उस बिजली के तार पर बनी जो एक विक्षिप्त आदमी ने पिशाब के रास्ते अन्दर डाल लिया था ।

गुर्दे में बनने वाली पथरियां

चित्र 1ग में दिखाए गए पत्थर गुर्दे में बने है । छोटे होते हैं तब बड़े दुःखदायी होते हैं । तीव्र वेदना होती है । पिशाब में खून आता है और जलन होती है । छोटी

पथरियाँ दुःख देकर अपने आप निकल जाती हैं । बड़ी होने पर दर्द कम हो जाता है लेकिन गुर्दे को नुकसान होता जाता है । जिसमें एक बार बनी, उसमें वापस बनने की सम्भावनाएँ काफी होती हैं ।

पथरियों के रासायनिक प्रकार

रासायनिक रूप में यह मुख्यतया चार प्रकार की होती है । कैल्शियम आक्जेलेट, कैल्शियम फोसफेट, यूरिक एसिड और मैगनेशियम अमोनियम फोसफेट । इन चारों प्रकार की पथरियों के बनने के कारण सर्वथा भिन्न होते हैं और इनके इलाज के लिए उपयुक्त दवाएँ भी सर्वथा भिन्न । मिसाल के रूप में जैसे कैल्शियम आक्जलेट की पथरी में खान में ज्यादा फोसफेट का सेवन (जैसे कुल्थ की दाल व कुछ दवाएँ) जहाँ लाभदायक होती है, वहीं फोसफेट में बनने वाली पथरियों में नुकसान दायक । जैसे यूरिक एसिड से बनी पथरी वाले व्यक्ति में अगर किसी तरह से पिशाब क्षारीय बना दिया जाय तो घुल जायगी, मैगनेशियम अमोनियम फोसफेट से बनी पथरी ऐसी दवाओं से तीव्र गति से बढ़ने लगेगी । सभी प्रकार की पथरियों को एक ही प्रकार से उपचार करना न तर्क-संगत है और न ही सार्थक ।

क्या पथरियाँ दवाओं से घुल सकती हैं ?

80% से भी अधिक लोगों में कैल्शियम आक्जलेट रसायन की पथरियाँ बनती हैं । एक बार बनने के बाद यह किसी दवा से नहीं घुलती । दवा से घुलने वाली पथरी यूरिक एसिड या सिस्टीन की बनी होती है । घुल-घुल कर या टुकड़े-टुकड़े होकर निकालने वाली दवाओं के दावे सर्वथा गलत हैं । वास्तव में टुकड़े-टुकड़े दिखने वाले कण पिशाब में बनने वाली नई पथरियाँ होती हैं और जिन लोगों में बनती हैं उनमें रेत के कणों की तरह पिशाब में निकलती हैं ।

पथरी बनाने वाले कण

कैल्शियम आक्जलेट के क्रिस्टल *पिशाब में लिफाफों के आकार के होते हैं । पिशाब में इनका होना दर्शाता है कि कैल्शियम आक्जलेट अपनी घुलनशीलता से अधिक मात्रा में है । ऐसे ही क्रिस्टलस को चुन-चुनकर जुड़ने की* प्राकृतिक प्रक्रिया से पथरी बनती है, तराशे होने से यह क्रिस्टल गहनों से भी अधिक कुशलता से जड़े होते हैं ।

पथरी न बनने के उपाय/साधन

कैल्शियम आक्जलेट की पथरी न बने, या बनी पथरी और बड़ी न हो उसके उपाय में हैं पानी का खूब सेवन, खासकर खाने के बाद, सफर के दौरान और रात को सोने से पहले । *पानी कम पीने से या पसीने से अधिक उड़ने से पिशाब गाढ़ा हो जाता है और घुलनशीलता कम होने से कैल्शियम आक्जलेट बैठ जाता है ।* साथ

53 ग्राम । बच्ची के पिशाब की थैली से एक रास्ता योनि में खुलता था और उससे आने वाले पिशाब के योनी में जमा होने से पथरी बनी थी ।

यह दु:खदायी पथरियां अन्दर से बड़ी सुन्दर होती है । पोलेराइन्ड सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देखने पर हीरे पन्ने से भी अधिक चटक रंग दिखते है । एक-एक कण जिस करीने से लगे होते है और जुड़े होते हैं उनसे बनने वाले मेहराब किसी मन्दिर के शिल्प से कम नही होते ।

शाकाहारी बनिए

शल्य चिकित्सा द्वारा उपचार की जाने वाली सर्वाधिक पुरानी बीमारी में से एक है पेशाब में पथरी की बीमारी । हमारे वेदों के अनुसार इस विद्या में हमारे पूर्वज दक्ष थे । विश्व के चिकित्सा इतिहास मे भी यह बीमारी व्यापकता के कारण सदा सक्रियी विचार और अनुसंधान का केन्द्र रही है । पथरी को घोलने के लिए, इतिहास साक्षी है, क्या नही दिया गया और क्या अब भी नही दिया जाता । पक्षियों की बीठ, मछली के सर की हड्डी, जानवरों के सींग, जड़ी-बूटी, फल-फूल-बीज, सभी कुछ तो दिया गया और व्यथा से तड़पते रोगियों ने क्या कुछ नही किया । यहां तक कि जब किसी भी तरह छुटकारा नहीं मिला तो स्वयं अपना पेट चीरकर पेशाब की थैली से पथरी निकाल ली थी ।

गुर्दे की पथरी

राजस्थान के अस्पतालों से लिए गये आंकड़ो से ज्ञात होता है कि गुर्दे के बनिस्पत पेशाब की थैली मे बनी पथरियां बहुतायत में होती है । लगभग हर दस पथरी के मरीजों में छह-सात पेशाब की थैली मे ही होती है । देश के हर अस्पताल (महानगरों को छोड़कर) और विश्व के हर पिछड़े देश में यही हाल है । उन्नत और प्रगतिशील देशों में आज के पचास या सौ साल पहले तक यही हाल था । किसी भी देश की औद्योगिक प्रगति और आर्थिक समृद्धि के अनुरूप ही वहां पेशाब की थैली में बनने वाली पथरियों का अनुपात कम होता जाता है । स्वाभाविक ही है कि गरीबी में निहित कुपोषण, असन्तुलित अस्वच्छता, अत्यधिक परिश्रम आदि को इसका कारण माना गया । लेकिन दुर्भाग्य देखिये कि प्रगति और समृद्धि के फलस्वरुप पेशाब की थैली मे बनने वाली पथरियां तो कम हो गई लेकिन गुर्दे में बनने वाली पथरियां अनुपात से कहीं अधिक बढ़ गई । खाई मे निकले तो कुये में गिरने वाली बात हो गई । कारण यह कि पेशाब की थैली में बनने वाली पथरी का इलाज बड़ा सरल और पक्का था, एक छोटा-सा आपरेशन और मरीज हमेशा के लिए ठीक । पथरी फिर नहीं बनती थी । इसके विपरीत गुर्दे में बनने वाली पथरी को निकालने के लिए

एक तो गम्भीर और बड़ा आपरेशन आवश्यक होता है, और फिर उसके वापस बनने के आसार समयोपरान्त स्तर प्रतिशत मरीजों में होते है। अतः गुर्दे की पथरी के लिए अधिकांशतः आपरेशन रोग का निवारण नही, मात्र दर्द से छुटकारा दिलाने की प्रक्रिया माना जाता है। हर नया आपरेशन अधिक कठिन, अधिक गम्भीर। रोगी और चिकित्सक दोनों के लिए मुसीबत। आपरेशन की आवश्यकता न भी पड़े तो बार-बार बनने वाली पथरी की वेदना असहनीय होती है।

प्रगति और सम्पन्नता की इस अनोखी कीमत, पेशाब की थैली में बनने वाली पथरी की जगह अधिक गम्भीर गुर्दे में बनने वाली पथरी, पर खोजबीन के बाद कहा गया कि अत्यधिक आहार, खासकर कैल्सियम आदि, पथरी बनाने वाले तत्वो का सेवन और सुविधा सम्पन्न, परिश्रमहीन जीवन, इसके सहायक कारण है।

हाल मे हुए अनुसंधान से यह मालूम हुआ है कि उन्नत देशों में मासाहारी भोजन के उत्तरोत्तर बढ़ते सेवन के कारण जीव प्रोटीन शरीर में अत्यधिक मात्रा में पहुंचती है। जीव प्रोटीन में निहित शारीरिक प्रक्रिया के फलस्वरूप यूरिक अम्ल उत्पन्न होता है जो अनावश्यक होने के कारण पेशाब के साथ विसर्जित होता है यूरिक अम्ल, एसिडम्यूकोपोलीसेकेराइड नामक तत्व से जुड़कर उसे निष्क्रिय कर देता है। एसिड-म्यूकोपोलीसेकेराइड ही पेशाब में पाया जाने वाला वह तत्व है जो पथरी बनाने वाले लवण कैलशियम आक्जलेट को घोल कर रखता है। यूरिक अम्ल द्वारा जितना अधिक म्यूकोपोलीसेकेराइड निष्क्रिय किया जाता है उतनी ही केलशियम आक्जलेट का पेशाब में घोले रखने की क्षमता घटती जाती है। आखिर केलशियम आक्जलेट के कण बैठ जाते है। जिनके जुड़ जाने से पथरी बन जाती है। सर्वाधिक पथरियां केलशियम आक्जलेट लवण की ही होती है।

अतः पथरी पर अनुसन्धान करने वाले इन वैज्ञानिको का मत है कि गुर्दे की पथरी की बीमारी से छुटकारा पाने के लिए शाकाहारी भोजन एक अच्छा उपाय है।

———

विकलांगता

देश

देश मे 1931 के बाद पहली वार हुई विकलांगों की जन-गणना से ज्ञात होता है कि सर्वाधिक अंधे प्रति एक लाख जनसंख्या में 139 राजस्थान में हैं। (गांवों की आबादी में 159 और शहर में 62)। उड़ीसा का स्थान दूसरा है, जहां प्रति एक लाख व्यक्तियो मे से 106 अंधे है।

केन्द्र शासित प्रदेश लक्षद्वीप में तो अन्धों की संख्या चौंकाने वाली है, जहां कि शहरी आबादी में हर एक लाख व्यक्तियों में से 300 अन्धे है। गांव और शहरी आबादी को मिलाकर प्रति लाख में 187 व्यक्ति लक्षद्वीप में अंधे है। अन्य केन्द्र शासित प्रदशो में अरुणाचल मे यह दर 119 है।

इन प्रदेशों मे अन्धेपन की व्यापकता इतनी अधिक क्यो है? इसका उत्तर सहज ही प्राप्त नही है। लेकिन जानकर सूत्रो के अनुसार जिन कारणों से बचाया जा सकता है वे हैं विटामिन "ए" की कमी, ट्रोकोमा और मोतियाबिंद जो अधिकांश लोगों में अन्धेपन का कारण होते हैं।

देश में हिमालय की तराई मे स्थित प्रदेशों में गूंगे-बहरों की व्यापकता अत्यधिक है। सिक्किम में हर एक लाख लोगों में से 633 गूंगे-बहरे है। (गांवों में 736 व शहरो मे 140), नागालैंड में 227, अरुणाचल प्रदेश में 241, मिजोरम मे 159 जबकि देश की औसतन व्यापकता दर केवल 41 प्रति लाख है। तराई स्थित बड़े प्रदेशों मे हिमाचल प्रदेश और जम्मू व कश्मीर मे भी यह दर औसतन से दुगुनी क्रमश: 98 और 83 है।

दुःख की बात तो यह है कि गूंगे-बहरेपन की अत्यधिक व्यापकता का कारण ज्ञात है। चिकित्सा विज्ञान की विश्व विख्यात पत्रिका "लान्सेट" में हाल ही में प्रकाशित एक शोध पत्र के लेखक डॉ. वी. एस. हेजल के अनुसार तराई प्रदेशों में रहने वाले 12 करोड़ लोगों में दस प्रतिशत लोगों के खाने में आयोडीन की कमी के कारण

जन्मजात क्रेटीनिज्म नामक बीमारी होती है, जिसके लक्षण हैं गूंगा-बहरापन, मानसिक विकास की कमी और दोनों पांवों का सख्त प्रकार का अंगघात ।

स्पास्टिक पेराप्लेजिया नामक दोनों पैरों का संक्षत अंगघात भी तराई के प्रदेशों में अत्यधिक व्याप्त है । इसका कारण भी खाने में आयोडीन लवण की कमी है । पांवो की इस प्रकार की विकृति से अपंग सिक्किम मे 118 प्रति लाख है, मिजोरम में 91, जम्मू कश्मीर में 84, त्रिपुरा में 74, अरुणाचल में 65 और हिमाचल प्रदेश में 64 है, जबकि देश में इसकी व्यापकता दर औसतन 53 है ।

दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना यह है कि गूंगे-बहरेपन और पैरों की विकलागता का कारण आयोडीन की कमी बहुत ही सस्ते और सरल तरीके से रोकी जा सकती है और वह है इन प्रदेशों में आयोडाईज्ड नमक का वितरण । स्वतन्त्रता के 42 साल बाद भी, इस संदर्भ में राष्ट्रीय योजनाओं के बावजूद इन सर्वथा रोकी जा सकने वाली विकलांगताओं की व्यापकता एक शर्म की बात है ।

तराई प्रदेशों के अतिरिक्त गुजरात और उड़ीसा में अपंगता की व्यापकता दर अत्यधिक है । गुजरात में 97 व्यक्ति प्रति लाख अपंग है, और उड़ीसा मे 76 । इन प्रदेशों में अपंगता का कारण भी भिन्न है, जैसे पोलियो, लैथेरिज्म, फ्लोरोसिस आदि । यह सब कारण भी बचाव सुलभ है ।

हाल ही में विकलांगता का विगतवार और कारणों के अनुसार देशव्यापी नमूना सर्वेक्षण हुआ । इसके अनुसार विकलांगता जनगणना के आंकड़ो से कही अधिक व्यापक है । इस सर्वेक्षण के अनुसार देश में हाथ-पैरों की अपंगता की अनुमानित व्यापकता दर 1417 प्रति लाख है, जबकि अन्धे, गूंगे और लंगड़ों-लूलों को मिलाकर व्यापकता दर जनगणना के अनुसार मात्र 166 है ।

इसके अतिरिक्त आंकड़ों के तथ्यात्मक विश्लेषण से जो सामने आया वह चौंका देने वाला है । अपंगता वहीं अधिक पाई जाती है, जहां कीटनाशक दवाओं का प्रयोग अधिक है । इसका वैज्ञानिक आधार सर्वविदित है । इस विश्लेषण के अनुसार हाथ-पांव कटने से विकलांगता वहीं अधिक है, जहा ट्रेक्टर और थ्रेशर का प्रयोग अधिक है । कीटनाशकों का विकलांगता से सम्बन्ध एक नया तथ्य उजागर हुआ है जो विचारणीय एवं चिन्ता का विषय है ।

राजस्थान

देश मे स्वतन्त्रता के बाद पहली बार विकलांगों की जनगणना हुई । जनगणना दोनों आंखों से अन्धे, दोनों हाथ अथवा दोनों पांवों से अपंग या लाचार और सर्वथा गूंगे व्यक्तियों की, की गई ।

विकलांगता

देश

देश में 1931 के बाद पहली बार हुई विकलांगो की जन-गणना से ज्ञात होता है कि सर्वाधिक अंधे प्रति एक लाख जनसंख्या में 139 राजस्थान में है। (गांवों की आबादी में 159 और शहर में 62)। उड़ीसा का स्थान दूसरा है, जहां प्रति एक लाख व्यक्तियों में से 106 अंधे है।

केन्द्र शासित प्रदेश लक्षद्वीप में तो अन्धों की सख्या चौकाने वाली है, जहां कि शहरी आबादी में हर एक लाख व्यक्तियों में से 300 अन्धे हैं। गांव और शहरी आबादी को मिलाकर प्रति लाख में 187 व्यक्ति लक्षद्वीप में अंधे है। अन्य केन्द्र शासित प्रदशों में अरुणाचल में यह दर 119 है।

इन प्रदेशों में अन्धेपन की व्यापकता इतनी अधिक क्यो है? इसका उत्तर सहज ही प्राप्त नहीं है। लेकिन जानकर सूत्रों के अनुसार जिन कारणों से बचाया जा सकता है वे है विटामिन "ए" की कमी, ट्रोकोमा और मोतियाबिंद जो अधिकांश लोगों में अन्धेपन का कारण होते है।

देश में हिमालय की तराई में स्थित प्रदेशों में गूंगे-बहरों की व्यापकता अत्यधिक है। सिक्किम मे हर एक लाख लोगों मे से 633 गूंगे-बहरे है। (गांवो में 736 व शहरो में 140), नागालैंड में 227, अरुणाचल प्रदेश में 241, मिजोरम मे 159 जबकि देश की औसतन व्यापकता दर केवल 41 प्रति लाख है। तराई स्थित बड़े प्रदेशों मे हिमाचल प्रदेश और जम्मू व कश्मीर मे भी यह दर औसतन से दुगुनी क्रमशः 98 और 83 है।

दुःख की बात तो यह है कि गूंगे-बहरेपन की अत्यधिक व्यापकता का कारण ज्ञात है। चिकित्सा विज्ञान की विश्व विख्यात पत्रिका "लान्सेट" में हाल ही में प्रकाशित एक शोध पत्र के लेखक डॉ. बी. एस. हेजल के अनुसार तराई प्रदेशों में रहने वाले 12 करोड़ लोगों में दस प्रतिशत लोगों के खाने में आयोडीन की कमी के कारण

विगतवार कारणों के आधार पर एवं विश्लेषणात्मक था । राजस्थान के बारे में जो विशेष बात सामने आयी वह यह है कि यहां लकवे से विकलांग हुए लोगों की व्यापकता दर देश में सबसे अधिक है । देश की औसतन 1?5 प्रति लाख की तुलना में राजस्थान में 353 । लकवे से अपंगता का मुख्य कारण पोलियो होने से यह कहा जा सकता है कि पोलियो निवारण के उपाय राजस्थान मे अन्य प्रान्तों की तुलना मे सर्वाधिक असफल रहे है ।

स्वतन्त्रता के 42 वर्ष बाद भी निवारण साध्य कारणों से अन्धेपन, गूंगेपन और अपंगता की प्रान्त में अति व्यापकता चिकित्सा विभाग के लिए शर्म की बात है ।

जनगणना एवं सर्वेक्षण द्वारा एकत्रित विकलांगता सम्बन्धी आकड़ों का लाभ उठाकर किस प्रकार इससे यह ज्ञात कर सकते हैं कि किन विशेष कारणों एवं परि-स्थितियों से कौनसी शारीरिक अपंगता या विरूपता उत्पन्न होती है, इसका उदाहरण है—इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलोजी, दिल्ली के डॉ० दिनेश मोहन का अध्ययन ।

डॉ० दिनेश मोहन ने अखिल भारतीय विकलांगता सर्वेक्षण के आंकड़ों का विगतवार विश्लेषण किया । विभिन्न प्रकार की विकलांगता किन सामाजिक-आर्थिक, स्वास्थ्य चिकित्सा और तकनीकी कारणों पर निर्भर करती है, उसका विश्लेषण किया । सामाजिक-आर्थिक कारक के रूप में लिये गये गरीबी रेखा के नीचे जनसंख्या का प्रतिशत, परिवार की सदस्य संख्या, शैक्षणिक स्तर, खेतिहरों का प्रतिशत, खेति-हर मजदूरों का प्रतिशत, आदि । स्वास्थ्य चिकित्सा सम्बन्धी कारक थे अस्पतालो की बिस्तर संख्या, प्रति व्यक्ति स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च, प्रति डॉक्टर जनसंख्या, बच्चों की मृत्यु दर, आदि और तकनीकी कारक थे प्रति व्यक्ति वाहन संख्या, रेल और सड़क किलोमीटर प्रति व्यक्ति, फैक्ट्री उत्पादन, कीटनाशक दवाओं की प्रति हैक्टर खपत, प्रति खेतिहर ट्रैक्टरों की संख्या आदि ।

इन कारणों में अगर किसी का विशेष प्रकार की विकलांगता से सीधा सम्बन्ध है तो वह देश के सभी प्रान्तों व जिलों में उस कारण के सीधे अनुपात में होगी । इसी का वैज्ञानिक विश्लेषण सांख्यिकी विधि से किया गया ।

जो तथ्य सामने आये वे बड़े अचरज मे डालने वाले लेकिन गम्भीर है । यह पाया गया कि अन्धापन व अपंगता का सीधा सम्बन्ध कीटनाशक दवाओं के प्रयोग और खपत से है । हाथ-पांव कटने से उत्पन्न अपंगता, ट्रैक्टर और थ्रेशर के प्रयोग के अनुपात में है । तदोपरान्त अध्ययन कर यह ज्ञात किया गया कि विभिन्न प्रकार के कीटनाशक किस अनुपात में शरीर में प्रवेश करते है और संग्रहित होते है और वे कैसे शरीर को प्रभावित कर विकार उत्पन्न करते है ।

इस प्रकार से प्राप्त विश्लेपणात्मक निष्कर्ष पर आधार कर ही समुचित एवं सटीक निवारक और निरोधक कार्यक्रम सार्थक हो सकते हैं।

हाथ में चोट

जयपुर के उद्योगो मे हाथों में चोट लगने का सिलसिला अत्याधिक व्यापक है।

"विकासशील देशों मे अधिकांश उद्योगीकरण अधीन क्षेत्रों मे कर्मचा सुरक्षा सम्बन्धी फैक्ट्री कानून का पालन अधिकतर अवहेलना के रूप मे होता है स्वाभाविक है कि उद्योगों मे चोट लगने की दर अधिक है। साथ ही अव्यवस्थित औ ग्राम स्वास्थ्य सेवायें स्थिति को और भी खराब करती है जिससे चोट से होने वाली अपंगता में बढ़ोतरी होती है।" यह कथन है डॉ. नवनेन्द्र माथुर और डॉ के. के. आर. शर्मा का जिन्होने जयपुर के उद्योगों में हाथ में चोट लगने से 1983 से 1986 तक क्रमशः प्राये 625 कर्मचारियो का अध्ययन किया। राज्य कर्मचारी बीमा निगम के तहत जयपुर के 42,900 औद्योगिक कर्मचारियों मे से उपरोक्त थे।

चिकित्सको के अध्ययन के अनुसार जयपुर में हर 10,000 कर्मचारियों में से प्रतिवर्ष 36 को हाथो में चोट लगती है। जिनमें मे 44 प्रतिशत में यह चोट गंभीर होती है अर्थात् जिसके कारण उन्हें 4 सप्ताह से अधिक अस्पताल में रहना होता है और जिसमे अधिकांश मे स्थाई अपंगता उत्पन्न होती है।

स्थिति की गंभीरता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि जयपुर जैसे सामान्य रूप से औद्योगीकरण वाले नगर मे भी चार वर्षों में 21,875 कार्य दिवसों की क्षति हुई।

काम से अनुपस्थिति

आंकड़े उपलब्ध 471 रोगी
कुल अनुपस्थिति 16,806 दिन
औसत अनुपस्थिति 65 दिन/रोगी
625 रोगियो के लिए आंकी गई अनुपस्थिति 21,875 दिन

डॉक्टर माथुर और डॉ. शर्मा ने 295 कर्मचारियों के मुआवजे संबंधी निपटाये गये मामलों में देय रकम के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि अध्ययन के चार वर्षों मे 625 चोट खाये औद्योगिक कर्मचारियों को देय राशि 43 लाख 12 हजार

पांच सौ रुपये होगी। अर्थात्—राजस्थान जैसे विपन्न प्रांत में केवल जयपुर के उद्योगो में मात्र हाथों पर चोट लगने पर 10 लाख रुपये की क्षति प्रतिवर्ष होती है।

आर्थिक क्षति आंकड़े उपलब्ध 295 रोगी

(1) राज्य कर्मचारी बीमा निगम को क्षति

(अ) तत्कालिक अपंगता भाग 1,83,000

(ब) स्थाई अपंगता मुआवजा देय भुगतान 15,42,000

(2) फैक्टरी की क्षति (कार्य क्षति के रूप में) 2,57,000

(3) कर्मचारी को क्षति (वेतन में कमी) 62,000

कुल 20,44,000

औसत प्रति रोगी 6,900

अध्ययनरत 625 रोगियों पर आंकी गई राशि 43,12,500

विचारणीय विषय यह है कि क्या आर्थिक और मानवीय रूप से यह उचित नहीं होगा कि सुरक्षा सम्बन्धी प्रावधान पर अधिक ध्यान दिया जाये? राजस्थान जैसे गरीब प्रांत में भी अपने कर्मचारियों के हाथ पर लगी चोटों मात्र पर इतनी विशाल राशि का व्यय चिंता का विषय है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि उद्योगपतियों की अवज्ञा, कारखानो में सुरक्षा नियमों का पालन करवाने में अधिकारियों और चिकित्सकों की उपेक्षा और अवहेलना, कर्मचारियों का निम्न शिक्षा स्तर मिलकर इस विषय स्थिति के लिए उत्तरदायी है।

उद्योगपति राज्य कर्मचारी बीमा निगम को नियमानुसार अनुदान देते है। चूंकि चोट लगने पर उसकी देखभाल चिकित्सा और मुआवजे का खर्चा सब निगम उठाता है, अतः फैक्ट्री मालिकों की सुरक्षा नियमों का पालन करने में कोई रुचि नही होती। उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता कि एक कर्मचारी को चोट लगी या सौ को। निगम के अधिकारी बीमा की अतुल धनराशि को बांटने में ही अपने कार्य की इतिश्री समझते हैं। सुरक्षा सम्बन्धी नियमों से अपना कोई सरोकार नहीं समझते।

डॉ. माथुर और डॉ. शर्मा ने जिन 625 हाथ में चोट लगे कर्मचारियों का अध्ययन किया उनमें 812 अंगुलियां, 49 हथेलियां प्रभावित हुई थी। उनमें से 454 गम्भीर रूप से प्रभावित हुई यथा 225 कट गई, 102 टूट गई और 127 में चमडी के अधिक भाग उखड जाना, स्नायुतन्तु आदि में क्षति।

एक चौंका देने वाला तथ्य जो इस अध्ययन से सामने आया वह है कि जहां 7 प्रतिशत कर्मचारियो के चोट चलती मशीन मे हाथ आने से हुई वही 25 प्रतिशत के हाथों मे चोट भारी बोझा उठाने और ले जाने में हुई।

चिकित्सकों का कहना है कि चलती मशीन में हाथ न आये इसके लिये तो सुरक्षा उपाय के लिये विशिष्ट उपकरणों का उपलब्ध होना व नियमों का पालन आवश्यक है, लेकिन भार ढोने से क्षत-विक्षत होते हाथों को बचाने के लिये मात्र सावधानी और कुछ साधारण उपकरण ही पर्याप्त है।

एक और विचारणीय तथ्य जो इस अध्ययन से सामने आया वह यह कि कार्यरत कर्मचारी को चोट लगने पर इलाज के लिये अनुपस्थिति के दौरान जहां 295 कर्मचारियों को 1,83,000 रुपये तत्कालीन अपंगता लाभ (टेम्परेरी डिसएबिलिटी बेनीफिट) के रूप में बीमा निगम द्वारा दिये गये वहीं 62,000 रुपये उनके वेतन में से काटे गये। कर्मचारियों के वेतन में से बीमे के लिये कटने वाली राशि के अतिरिक्त यह भार ऐसा लगता है जैसे अपना हाथ क्षत-विक्षत करने के लिये भी कर्मचारी अपना आर्थिक योगदान करते हों। यह कहां तक उचित है कि कर्मचारी चोट भी खाए और उसके लिये आर्थिक नुकसान भी भुगते, वह भी फैक्ट्री प्रबन्धकों के लिये काम करने के लिये, यह मजदूरों की शुभचिंतक संस्थाओं का विचारणीय विषय है।

पानी सागर से गागर तक

प्रचुर मात्रा में पानी का पाया जाना हमारी पृथ्वी की एक विशेषता है। शायद यही कारण है कि सौर मण्डल के और सभी ग्रहों को छोड़कर केवल पृथ्वी पर ही जीवन की उत्पत्ति हुई। पानी को हम कई रूप में देखते हैं। कहीं उमड़ते बादलों की तरह, तो कहीं लहराते सागर या पर्वतों को ढके बर्फ के रूप में। परन्तु लगता है कि पृथ्वी पर पानी की कुल मात्रा स्थिर और सीमित है—करीब 146 करोड़ घन किलोमीटर। यह हमारे सत्तर प्रतिशत धरातल को ढके हुए है। परन्तु इतना पानी होते हुए भी स्वच्छ पीने योग्य यामीठा पानी, इसका केवल एक प्रतिशत भाग है। बाकी 97 प्रतिशत समुद्रों में खराब पानी है और दो प्रतिशत बर्फ के रूप में है।

जीवन के लिए पानी के महत्त्व को मनुष्य ने आदिकाल से ही समझ लिया था। इसीलिए सभी प्राचीन सभ्यताएं बड़ी-बड़ी नदियों के किनारे ही पनपीं। आज से लगभग 4500 वर्ष पहले, सिन्धु घाटी सभ्यता के समय, हमारे पूर्वजों ने पानी के लिए बड़ी व्यापक व्यवस्था का विकास किया था। इसके प्रमाणस्वरूप मोहन-जोदड़ों में आज भी मिट्टी की ईंटों से बने कुंड, स्नानागार, नालियां आदि देखे जा सकते है। स्पष्ट है कि उन लोगों को जल वितरण और पानी के रख-रखाव का पूरा ध्यान था। इसकी तुलना में तो हमारे अधिकांश शहरों और गांवों की आज की जलव्यवस्था भी अपूर्ण लगती है।

बढ़ती हुई जनसंख्या व औद्योगीकरण के साथ-साथ पानी की मांग भी बहुत बढ़ गई है। एक बात सहज ध्यान में आती है कि पानी की कमी क्यों होनी चाहिए जबकि समुद्रों के रूप में हमारे पास जल का इतना विशाल भंडार है। परन्तु दुर्भाग्यवश समुद्र का जल इतना खारा है कि मानव शरीर इसको सहन नहीं कर सकता। अगर हमारे शरीर का रासायनिक विश्लेषण किया जाए, तो यह आश्चर्यजनक सत्य सामने आता है कि हमारे शरीर का 65 से 75 प्रतिशत भाग केवल पानी है। महिलाओं में, अपेक्षाकृत पानी कुछ कम और वसा कुछ अधिक होती है। शरीर के इस पानी में भी नमक धुला है परन्तु इसकी मात्रा कम है—एक लीटर पानी में नौ

ग्राम नमक । दूसरी ओर समुद्र के एक लीटर पानी में 30–40 ग्राम नमक होता है । अगर समुद्र के सारे नमक को निकालकर सुखा दिया जाय तो इसकी 45 मीटर ऊंची परत सारे धरातल को ढक लेगी । नमक की इतनी अधिक सांद्रता के कारण ही समुद्र में भटके व्यक्तियों के लिए खारा पानी पीने के बजाय प्यासा रहना अधिक हितकर सिद्ध हुआ है ।

इधर कुछ वर्षों से समुद्र के खारे पानी को स्वच्छ पीने योग्य बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं । कुवैत, सऊदी अरब और मैक्सिको में इसके लिए बड़े पैमाने पर संयन्त्र लगाये गये हैं । परन्तु अभी इस प्रकार से साफ किये हुए पानी की कीमत काफी अधिक पड़ती है । हो सकता है निकट भविष्य में सारी प्रणाली को आणविक ऊर्जा से चलाकर सरल और सस्ता बनाया जा सके । इससे रेगिस्तानी प्रदेशों के जल समस्या को स्थाई रूप से हल करने में निसन्देह बहुत सहायता मिल सकती है लेकिन पर्याप्त धन और तकनीकी साधनों का अभाव ऐसे स्वप्नों को साकार कहां होने देता है ।

यह विडम्बना ही है कि आज इतनी वैज्ञानिक प्रगति के बाद भी विश्व के कई भागों में लोगों को स्वच्छ पीने का पानी उपलब्ध नहीं है । पानी के अभाव में न केवल जन-साधारण को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है बल्कि गन्दा, दूषित पानी पीने से कई बीमारियां भी उन्हें घेरे रहती है । दूषित पानी से होने वाले रोगों की सूची बहुत लम्बी है—हैजा, टायफायड, पीलिया, आंत्रशोध से लेकर फ्लोरोसिस तक ।

केन्द्रीय सूचना ब्यूरो द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार 1983 में राजस्थान के अस्पतालों में दो लाख से अधिक लोग बीमारियों के कारण भर्ती हुए थे जो मुख्यतया दूषित जल से होती है । इनमें से करीबन 1·8 लाख पेचिस, तेरह हजार आंत्रशोध, 12 6 हजार टायफायड, 5 हजार पीलिया या इन्फेक्टिव हिपेटाईटिस से पीड़ित थे । यह तो केवल राज्य के अस्पतालों में भर्ती हुए रोगियों की संख्या है । निश्चय ही वास्तविक संख्या तो इससे भी कहीं अधिक होगी ।

इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए विश्व स्वास्थ्य संगठन हर व्यक्ति को स्वच्छ पेयजल उपलब्ध कराने को प्राथमिकता दे रहा है । अगर सन् 2000 तक स्वास्थ्य सबके लिए के लक्ष्य को हमें प्राप्त करना है तो इसका दायित्व केवल डाक्टरों और दवाओं पर ही नहीं है । शायद इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है हर व्यक्ति को पर्याप्त भोजन व शुद्ध जल उपलब्ध कराना । राजस्थान की ही बात लें । स्वाधीनता के 32 वर्ष बाद छठी योजना के प्रारम्भ तक राज्य के 19,803, गांवों में पीने के पानी की उचित व्यवस्था नहीं थी । सरकारी आंकड़ों के अनुसार 9,321 गांवों में पानी लेने के लिए एक मील से अधिक चलकर जाना पड़ता था, 7009 गांवों में

पीने के पानी में फ्लोराइड एवं अन्य हानिकारक रासायनिक तत्व होने के कारण कई गम्भीर रोग होते थे और 3,473 गांवों में जल व्यवस्था रोगाणुओं से दूषित थी। पिछले चार वर्षों मे स्थिति में कुछ सुधार अवश्य आया है। पर अब भी 6,547 गांवों में पेयजल की उचित व्यवस्था नहीं है। दूसरी ओर बड़े-बड़े शहरों में जल-वितरण की व्यापक व्यवस्था तो है परन्तु पानी की शुद्धता अक्सर सन्देहास्पद रहती है।

पानी की समस्या केवल स्वच्छ पानी का स्रोत ढूंढने या उसे नलों द्वारा वितरित करने तक ही सीमित नहीं है। पानी हमें हर समय चाहिए इसलिए इस समस्या का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी है कि हम पानी को किस प्रकार घरों मे एकत्रित करके रखें, जिससे उसकी स्वच्छता बनी रहे। इसलिए पानी के रख-रखाव से सम्बन्धित हमारे यहां कई प्राचीन परम्पराएं है। इनके पीछे मुख्य भावना रही होगी कि कोई गन्दे हाथों से पानी को न छुए या कम से कम लोग पानी निकालने के लिए बर्तन मे हाथ न डालें। साथ ही पानी को एकत्रित करने, छानकर रखने तथा आगन्तुकों को पिलाने आदि के लिए विधिवत नीति निर्देश बनाये गये। दुर्भाग्यवश, इन परम्पराओं के पीछे छिपे मूल उद्देश्य तो धीरे-धीरे भुला दिये गये और पानी को सामाजिक वर्गीकरण तथा अलगाव का एक आधार बना दिया गया। स्वच्छ पानी का महत्त्व शाश्वत है। सभी मनुष्यों को सभी समय स्वच्छ पानी उपलब्ध होना चाहिए न कि केवल कुछ उच्च वर्ग के लोगों को ही या केवल कुछ विशेष धार्मिक आयोजनों के समय ही।

घरों मे पानी रखने के लिए विविध प्रकार के बर्तनो का उपयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। कुछ बर्तन वैभव के प्रतीक है। जैसे चाँदी के लोटे या गिलास सामाजिक प्रतिष्ठा दर्शायेंगे। दूसरी ओर अधिकांश सामान्य अथवा ग्रामीण परिवारों को मिट्टी या एल्यूमिनियम के बर्तनों से ही सन्तोष करना पड़ता है। इधर पाश्चात्य फैशन से प्रभावित घरों में पानी तरह-तरह के थरमस-फ्लास्क, प्लास्टिक की सुन्दर बोतलों या स्टील के बर्तनों मे रखा जाता है। मन्दिरों मे अब भी तांबे के बर्तन या प्याले देखने को मिलते है।

एक प्रश्न स्वतः उभरता है। यह इन विभिन्न प्रकार के बर्तनों का पानी की स्वच्छता से कोई सम्बन्ध है? या यह केवल सुविधा और व्यक्तिगत पसन्द की ही बात है। क्या स्वास्थ्य की दृष्टि से पानी को किसी विशेष धातु या पदार्थ के बर्तन मे रखना अधिक श्रेयस्कर है?

इन प्रश्नों की गहराई में पहुंचने के लिए हमने एक तुलनात्मक अध्ययन करने का निश्चय किया। आमतौर पर प्रचलित पानी रखने के सात प्रकार के बर्तन इसके लिए चुने गये और उन पर कई प्रकार के प्रयोग किये गये। यह बर्तन निम्न वस्तुओं

के बने थे—1. मिट्टी (छोटी मटकी) 2. कांच (जग) 3. प्लास्टिक (जग) 4. पीतल (राममागर) 5. तांबा (लोटा) 6 लोहा (गैलवेनाइज्ड छोटी बाल्टी) 7. एल्यूमीनियम (केटली)।

साल भर की अवधि मे इन बर्तनों पर जो प्रयोग किये गये उनमें से कुछ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

जीवाणुओं पर प्रभाव—दूषित पानी मे कई प्रकार के जीवाणु पाये जाते हैं और यही रोगों का कारण बनते है। यह जीवाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि आंखों से नही देखे जा सकते और न ही साधारण पानी छानने की प्रक्रिया से इन्हें अलग किया जा सकता है। देखना यह था कि इन बर्तनों के सम्पर्क से इन जीवाणुओं की वृद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

प्रयोगशाला में सभी बर्तनों को क्रम से जमा दिया गया। फिर उनको पानी से भरकर ढक दिया। परन्तु यह पानी साधारण पानी नही था। इसमें पहले से ही जान-बूझकर एक विशेष जीवाणु "एस्कीरिशीया-कोलाई" को मिला दिया गया था। ई-कोलाई उन प्रमुख जीवाणुओं में से एक है जिसका पानी मे पाया जाना पानी के दूषित होने को प्रमाणित करता है। इससे हमारे शरीर में कई बीमारियां हो सकती है। पूर्णतया स्वच्छ या आसुत जल मे भोज्य पदार्थ के अभाव के कारण सभी प्रकार के जीवाणु धीरे-धीरे मरने लगते है। परन्तु यदि पानी गन्दा हो या उसमें कुछ मिश्रण हो तब तो अनुकूल परिस्थितियां पाकर जीवाणु खूब पनपने लगते हे।

इन सूक्ष्म जीवाणुओं को सीधे तौर पर आंखो से तो देखा नही जा सकता। इनकी उपस्थिति ज्ञात करने के लिए वैज्ञानिक पहले इनको उचित समवर्धन-माध्यम (कलचर-मीडियम) पर बढ़ने देते हैं, ताकि इनके बड़े-बड़े जीव-समूह या कालोनी बन जायें जो आंखों से स्पष्ट दिखती है। इसीलिए बर्तनों में ई-कोलाई युक्त पानी डालने के बारह व चौबीस घण्टे बाद सभी में से नमूने के तौर पर थोड़ा-थोड़ा (28 माइक्रोलिटर) पानी निकाला गया। हर एक को काच की पैट्री-डिशो में डाला गया जिनमे पहले से ही उचित समवर्धन-माध्यम उपस्थित था। फिर 24 घंटों तक इन पैट्री-डिशों को शरीर के तापक्रम पर इनक्यूवेटर में रखा गया गया ताकि उचित भोजन व वातावरण पाकर जीवाणु खूब वृद्धि करें।

प्रारम्भिक प्रयोगो मे देखा गया कि जहां हर बर्तन से लिए पानी मे अनगिनत ई-कोलाई थे, जिनसे समवर्धन-माध्यम पूरी तरह भर गया था, वहीं तांबे के बर्तन से लिए नमूने मे मात्र नौ कोलोनी पाई गई।

दूसरे प्रयोगों में ई-कोलाई की संख्या कम रखी गई। विभिन्न बर्तनों में

घंटे तक ऐसे ई-कोलाई युक्त पानी को रखने के बाद जब इनसे नमूने लेकर परखा गया, तब परिणाम इस प्रकार रहा—

	ई-कोलाई की संख्या
(अ) प्रयोग प्रारम्भ करते समय पानी में डाले गए ई-कोलाई	2900
(ब) 12 घण्टे बाद बर्तनों में ई-कोलाई—	
ताम्बा	250
प्लास्टिक	850
अन्य	2000 से 2500

जीवाणुओं की संख्या घटा-बढ़ा कर कई प्रयोग करने पर निष्कर्ष यही रहा कि ताम्बे के बर्तन में रखने पर जीवाणु निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं और उनकी संख्या बारह घंटे बाद स्वतः बहुत ही कम रह जाती है। पीतल और प्लास्टिक के बर्तनों में भी कुछ जीवाणु निरोधक गुण प्रतीत होता है परन्तु ताम्बे की तुलना में बहुत कम। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अत्यधिक दूषित पानी को पीने योग्य बनाने लिए उसे कुछ घण्टे ताम्बे के बर्तन में रखना बहुत सहायक होगा।

यहां यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि बर्तनों को ढक कर रखना बहुत आवश्यक है। कुछ प्रयोग इसीलिए निरर्थक हो गये क्योंकि कुछ देर खुला छूट जाने पर बर्तन में बाहर से जीवाणु पहुंच गए और उनकी संख्या पहले से भी अधिक हो गई।

तापक्रम—सर्दी हो या गर्मी, पीने का पानी तो ठंडा ही अच्छा लगता है। गर्म या गुनगुने पानी से शरीर की आवश्यकता चाहे पूरी हो जाए पर आनन्द नहीं आता। प्यास अतृप्त रह जाती है। इसलिए यह देखने का भी प्रयास किया गया कि विभिन्न प्रकार के बर्तनों का पानी के तापक्रम पर क्या प्रभाव पड़ता है।

सभी बर्तनों में नल से पानी भर दिया गया। तीन घंटे बाद देखने पर ज्ञात हुआ कि मटकी को छोड़कर सभी में पानी का तापक्रम कमरे के तापक्रम के लगभग समकक्ष हो गया है। केवल 2–3 जीरो डिग्री सेन्टीग्रेड का अन्तर रह जाता था। परन्तु मिट्टी के बर्तन में रखे पानी का तापक्रम वातावरण के तापक्रम से काफी नीचे रहता था। हाल ही में किए गए एक प्रयोग में मटकी को खाली छत के पास बरामदे में रखा गया और हर एक घंटे के बाद पानी का व उस स्थान पर हवा का तापक्रम अंकित किया गया। परिणाम इस प्रकार था—

	समय	हवा का तापक्रम	पानी का तापक्रम	अन्तर
प्रातः	10·30	35°c	30°c	–5
	11·30	36°c	30°c	–6
दोपहर	12·30	36°c	29°c	–7
	1·30	39°c	28°c	–11
	2·30	41°c	28°c	–13
	3·50	45°c	28°c	–17
शाम	4·30	41°c	27°c	–14
	5·30	41°c	27°c	–14

निसन्देह अगर मटके के सूक्ष्म छिद्र अवरुद्ध न हो और हवा का हल्का बहाव बना रहे तो उसमें पानी खूब ठंडा रह सकता है। 17°c का अन्तर बहुत आकर्षक है। दूसरी ओर ताम्बे, पीतल या एलूमीनियम जैसी धातु के बर्तन ताप के सुचालक होने से जल्दी ही पानी को वायुमण्डल के समान गर्म या ठंडा कर देते हैं। इस प्रकार के उनमें रखा पानी कुछ ही समय में उतना ही गर्म या ठंडा हो जाएगा जितना कि वायुमण्डल।

ऑक्सीजन व अन्य गैसें—साधारण पानी में हमेशा थोड़ी बहुत ऑक्सीजन कार्बन-डाई-आक्साइड व अन्य गैसें घुली रहती है। एक ओर तो यह ऑक्सीजन पानी में पाए जाने वाले प्राणियों को जीवनदान देती है, वहीं दूसरी ओर हमारे लिए पानी का स्वाद भी बहुत कुछ उसमे घुली ऑक्सीजन व कार्बन डाई आक्साइड पर निर्भर करता है। इसीलिए उबाले हुए पानी मे वह स्वाद नहीं जो साधारण ठंडे पानी में होता है।

वर्तमान अध्ययन के अन्तर्गत विभिन्न बर्तनों मे रखे पानी में आक्सीजन व कार्बन डाई आक्साइड की मात्रा तथा पानी की अम्लता भी नापी गई। इसके लिए आधुनिक इलेक्ट्रानिक उपकरणों का प्रयोग किया गया। मुख्य बात यह सामने आई कि जहां और बर्तनों में धीरे-धीरे आक्सीजन की मात्रा समय के साथ घटती जाती है मिट्टी के बर्तन में ऐसा बहुत कम होता है। उदाहरणार्थ, एक प्रयोग में लोहे की बाल्टी में पानी भरने के छह घण्टे बाद पानी में आक्सीजन का दबाव 171 मिलीमीटर पारे के बराबर था। चौबीस घंटे बीतने पर इसमे 31 मि.मी. की गिरावट आई और यह 140 ही रह गया। दूसरी ओर मटकी मे यह आक्सीजन का दबाव इतने ही समय मे केवल तीन मी.मी. ही घटा। ऐसा प्रतीत होता है कि मिट्टी के सूक्ष्म छिद्रों के माध्यम से मटके में भरा पानी बाहर की आक्सीजन के समानान्तर ही बना

रहता है इसीलिए मटके का पानी स्वादिष्ट एवं तृप्तिदायक लगता है परन्तु इस घुली हुई आक्सीजन का हमारी पाचन प्रक्रिया पर क्या प्रभाव पड़ता है यह कहना अभी कठिन है।

फिलहाल यह निष्कर्ष सामने आता है कि ताम्बे के बर्तन में कुछ घंटे रखने से पानी में मौजूद जीवाणु बहुत हद तक नष्ट हो जाते हैं। बाद में यदि इसी पानी को साफ ढके मिट्टी के घड़े में रखा जाए तो पानी ठंडा, स्वादिष्ट और तृप्तिदायक बना रहेगा।

घरों में जल को स्वच्छ और सरल ढंग से संग्रहित करने से सम्बन्धित कई और रोचक प्रश्न उभर सकते हैं। मटकों में ही अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग तरह की मिट्टी व विविध आकार-प्रकार का उपयोग परम्परागत रूप से चला आ रहा है। कहीं मटके काले होते हैं, तो कहीं पीले अथवा लाल। क्या इनकी उपयोगिता में कोई अन्तर है? क्या किसी विशेष प्रकार की लकड़ी, कांच या धातु के बर्तन में रखने से पानी में रोग-निवारण गुण उत्पन्न किए जा सकते हैं? इत्यादि।

घातक कीटनाशक

सवाई मानसिंह अस्पताल के फोरेन्सिक विभाग से प्राप्त सूचना के अनुसार प्रति माह औसतन एक दर्जन व्यक्तियों की मृत्यु कीटनाशकों से होती है, जिनमें एल्यूमीनियम फॉस्फाइड प्रमुख है। उदयपुर से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार 1987 में 18 और 1988 में 16 व्यक्तियों की मृत्यु हुई। प्रांत के किसी न किसी भाग से प्रतिदिन एल्यूमीनियम फॉस्फाइड (सेलफोस) खाने से मृत्यु के समाचार छपते है।

एल्यूमीनियम फॉस्फाइड एक कीटनाशक है जो खा लेने पर घातक जहर सिद्ध होता है। तीन ग्राम की गोलियों में उपलब्ध उसकी आधी गोली भी घातक सिद्ध होती है।

कीटनाशक एल्यूमीनियम फॉस्फाइड

केन्द्रीय वेयर हाउस कार्पोरेशन के टेक्नीकल मैनेजर पी. आर. विशम्भरन द्वारा प्रसारित एक लेख में कहा गया है कि एल्यूमीनियम फॉस्फाइड विलक्षण प्रभावकारी कीटनाशक है जो तीन ग्राम की टिकियाओं के रूप में उपलब्ध है। इस टिकिया में 55% एल्यूमीनियम फॉस्फाइड और 45% एल्यूमीनियम कार्बोमेट होता है। हवा की नमी के सम्पर्क में आने से उसमें ज्वलनशील फॉस्फीन गैस निकलती है और साथ ही कार्बोमेट से अमोनिया और कार्बन डाइआक्साइड गैस जिससे फॉस्फीन आग न पकड़ सके। लेख में कहा गया है कि अनाज को सुरक्षित रखने वाली यह गोली खुले बाजार में उपलब्ध है।

एल्यूमीनियम फॉस्फाइड एक जानलेवा कीटनाशक

1983 में सर्वप्रथम सेलफोस नामक एल्यूमीनियम फॉस्फाइड से मृत्यु की 26 लोगों की सूचना प्रकाशित हुई थी। (राजस्थान पत्रिका, उदयपुर, 31.7 83) जो शीघ्र ही बढ़कर 37 हो गई थी। इनमें 19 युवक और 18 युवतियां थीं। जिसने आधी गोली खाई वह भी नहीं बचा।

1985 में रतलाम, इन्दौर और जयपुर में सेलफास खाकर मरने वालों का विवरण जनरल आफ एसोसियेशन ऑफ फिजीशियन ऑफ इण्डिया नामक शोध

पत्रिका मे प्रकाशित हुये । इन रिपोर्ट्स में 37% में मृत्यु का कारण भूल से इस कीटनाशक की गोली का निगलना था । 1985 में ब्रिटिश मेडिकल जर्नल में पी. जी. श्राई. चण्डीगढ़ से 15 केस की रिपोर्ट प्रकाशित हुई ।

1987 में ग्राल इण्डिया इन्स्टीट्यूट ग्रॉफ मेडीकल साईन्स से 15 (केवल चार महीनों मे) ग्रौर मेरठ मेडीकल कॉलेज से 55 का विवरण जनरल ग्रॉफ एसोशिएशन ग्रॉफ फीजिशियन ग्रॉफ इण्डिया में प्रकाशित हुग्रा ।

विश्व विख्यात शोध पत्रिका "द लान्सेट" के 9 ग्रप्रेल, 1988 के ग्रंक में दिल्ली के ग्रासपास के 6 ग्रस्पतालों में 285 में एल्यूमीनियम फॉस्फाइड जहर खाने का विवरण प्रकाशित हुग्रा है, जिनमें 114 रोहतक से है । शोधकर्ताग्रों ने इसको "उत्तरी भारत में एल्यूमीनियम फॉस्फाइड से महामारी" की संज्ञा दी है । शोधकर्ताग्रों ने उन सब कारणों का उल्लेख भी किया है, जिनके फलस्वरूप प्रकाश में ग्राने वाले केस वास्तविकता के ग्रंश मात्र ही होते हैं ।

प्रायोगिक जानकारी

किसी ऐसे रसायन का जिसका शरीर पर प्रभाव हो सकता है, बाजार में ग्राने से पहले विभिन्न जीव प्रयोगों द्वारा ग्रध्ययन करना ग्रावश्यक होता है । ऐसे प्रयोगों से शरीर पर संभावित कुप्रभावों का पता चल जाता है ग्रौर उनसे निबटने के लिये ग्रावश्यक ग्रौषध ग्रौर विधि का पता चल जाता है ।

लेकिन चूँकि एल्यूमीनियम फॉस्फाइड एक गैसीले कीटनाशक के रूप में काम में लिया जाता है । ग्रतः जहरीली गैस का ग्रसर फेफड़ों व शरीर पर ही ग्रध्ययन किया गया । उससे बचने ग्रौर रक्षा के उपाय भी ज्ञात किये गये । लेकिन निगलने पर गोली से निकली जहरीली गैस फॉस्फीन का शरीर पर क्या ग्रसर होगा, उसके प्रयोग नहीं किये गये । ग्रतः इस दुर्घटना पर चिकित्सा की क्या विधि हो यह भी तय नहीं है ।

एल्यूमीनियम फॉस्फाइड पानी के सम्पर्क में ग्राने पर, या इससे भी बदतर, निगलने पर ग्रामाशय की ग्रम्लीय तरल के सम्पर्क में ग्राने पर फॉस्फीन गैस किस तीव्रता से निकलती है उसका ग्रन्दाज भी नहीं किया जा सकता । कुत्ते पर प्रयोग के लिये जब हमने ग्रजमेर मेडीकल कॉलेज में एल्यूमीनियम फॉस्फाइड की गोली का चूरा बनाकर पानी के साथ सिरिंज से एक ट्यूब द्वारा कुत्ते के पेट में डालने का प्रयास किया तो तीव्र गति से निकली गैस के कारण यह सम्भव ही नहीं हो पाया ग्रौर सबको प्रयोगशाला छोड़ बाहर भागना पड़ा । कुत्ते के पेट को खोलकर ग्रामाशय में छेदकर जब गोली डाली गई तो गैस इस तीव्र गति से निकली कि सिलाई भी नहीं की जा सकी ।

एल्यूमीनियम फॉस्फाइड विषपान के लक्षण

निगलने के बाद घातक फॉस्फीन गैस इतनी तीव्र गति से निकलती है और रक्त में शोषित हो जाती है कि बचाव के लिये कुछ करने का समय ही नही मिलता। शीघ्र ही अस्पताल पहुँचने वाला मरीज होश में होता है, उसे सब ज्ञान होता है, सांस कुछ उखड़ी होती है, घबराहट होती है, गला सूखता है, प्यास लगती है और पेट में कुछ दर्द होता है। हठात् उसका रक्तचाप गिरता है, रोगी बेहोश हो जाता है, किसी दवा से लाभ नही होता, अन्त निश्चित होता है। पोस्टमार्टम में सारा रक्त हृदय मे दूरस्थ शिराओं मे इकट्ठा हुआ मिलता है और उसके अलावा कुछ नही।

एल्यूमीनियम फास्फाइड का उत्पादन

हाल ही में केन्द्र सरकार के वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी विभाग और वॉलेन्टरी हैल्थ एसोसियेशन ऑफ इण्डिया द्वारा संकलित एक रिपोर्ट (1987) में 1 अगस्त, 1985 तक एल्यूमीनियम फॉस्फाइड के उत्पादन के आकड़े हैं। आकडो के अनुसार भारत में चार कम्पनियां 1970 टन एल्यूमीनियम फॉस्फाइड बनाती है। एक्सेल इन्डस्ट्रीज बम्बई 300 टन, स्वदेशी केमीकल बम्बई 400 टन, युनाइटेड फासफोरस, वापी 1000 टन, भारत पलवराइजिंग मिल्स, बम्बई 120 टन और पंजाब युनाइटेड फोसफोरस 150 टन।

खाद्य भण्डार और खाद्य निगमों के पास अनाज

भारत सरकार द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार विभिन्न भण्डारो और निगम के पास सन् 1987 में कुल 460 लाख टन अनाज रखने की व्यवस्था थी।

खाद्य भण्डारों और खाद्य निगमों को एल्यूमीनियम फास्फाइड की आवश्यकता

एक टन अनाज के लिये 3 ग्राम की 3 गोली यथा तकरीबन 10 ग्राम एल्यूमीनियम फॉस्फाइड की आवश्यकता होती है। इस प्रकार समस्त खाद्य भण्डारो और निगम के पास सकलित 460 लाख टन अनाज के लिये मात्र 460 टन एल्यूमीनियम फॉस्फाइड की आवश्यकता होगी। इसके विपरीत एल्यूमीनियम फॉस्फाइड का उत्पादन 1970 टन होता है।

लाइसेंस की शर्तें

हाल ही में केन्द्रीय कृषि मन्त्री ने एक प्रश्न के उत्तर में लोकसभा मे बताया कि एल्यूमीनियम फास्फाइड बनाने का लाईसेन्स केवल खाद्य निगमों और खाद्य भण्डारों को सप्लाई करने के लिये ही है। उसकी खुले बाजार में बिक्री निषिद्ध है। उनके अनुसार अगर इसकी खुले बाजार में बिक्री की जानकारी सरकार के ध्यान मे लाई गई, तो सरकार उचित कार्यवाही करेगी (प्रश्न संख्या 516, अप्रैल 6, 19 ९)।

कीटनाशक अधिनियम, 1968

इस अधिनियम की धारा 4(1) के अन्तर्गत सरकार ने केन्द्रीय कीटनाशक बोर्ड की स्थापना की है। धारा 4(2) ए के तहत बोर्ड केन्द्र सरकार को कीटनाशकों से जानवरों और मनुष्यों को होने वाली संभावित हानि और उससे बचाव के उपायों के लिये सुझाव देगी।

धारा 4(3) के तहत इस बोर्ड के चेयरमैन केन्द्रीय स्वास्थ्य महानिदेशक और एक मैम्बर केन्द्रीय औषध नियन्त्रक होंगे।

अधिनियम में धारा 14 में प्रावधान है कि अगर लाइसेन्स की शर्तों का पालन नहीं हुआ है तो लाइसेन्स कैंसिल या स्थगित किया जा सकता है। धारा 26 में प्रावधान है कि कीटनाशक से होने वाली प्रत्येक मृत्यु की सूचना देना कानूनन अनिवार्य है।

कीटनाशक नियम (1971) नं. 41 के तहत यह अनिवार्य है कि उत्पादन कर्त्ता एवं बिक्री कर्त्ता कीटनाशक के निगल जाने अथवा शरीर में अन्य किसी तरह प्रवेश करने पर होने वाले कुप्रभावों से निपटने के लिये प्राथमिक उपचार और जहर नाशक उपयुक्त औषध उपलब्ध रखे और उपलब्ध कराये।

उपरोक्त विवरण से साफ है कि—

—एल्यूमीनियम फॉस्फाइड नामक कीटनाशक से प्रतिवर्ष देश में हजारों लोगों की मृत्यु होती है।

—अधिकांश मृत्यु, तात्कालिक भावावेश में या गलती से खाई गई गोलियों से होती है, जिनसे बचा जा सकता है।

—छोटी गोलियां, छोटे पैकेट में सस्ते दामों में सरलता से मिलना, इस जहर का घर-घर उपलब्ध होने का कारण है।

—नियमों के खिलाफ इस कीटनाशक की खुले बाजार में बिक्री का ज्ञान सभी को है, सरकारी विभागों को भी लेकिन इसे रोकने के कोई कारगर उपाय नहीं किये गये है।

—खाद्य भण्डारो और खाद्य निगमों के लिये बनने वाला कीटनाशक अगर खुले बाजार में पहुंचता है तो जाहिर है वहां से चोरी छुपे रूप में बाजार में पहुंचता होगा इसके परोक्ष प्रमाण के बावजूद इस विषय में कोई जांच नहीं हुई है।

—भारत के चिकित्सा महा निदेशक और औषध नियन्त्रक कीटनाशक

के क्रमशः चेयरमैन और मेम्बर है । चिकित्सा पत्रिकाओं में सैंकडों लोगों की मृत्यु के प्रकाशन के बावजूद उन्होंने इस विषय मे कारगर कदम उठाने का सुझाव नहीं दिया है ।

—लाइसेन्स की शर्तों के बावजूद इस कीटनाशक की खुले बाजार में बिक्री के लिये उत्पादन कर्त्ताओं को दोषी नही ठहराया गया ।

—आत्महत्या के विपरीत विष दुर्घटना और विष द्वारा हत्या के केसों में विष कैसे और किस के द्वारा उपलब्ध करवाया गया, इसके लिये पुलिस कार्यवाही करने को बाध्य है, लेकिन ऐसा नही किया जाता ।

—एल्यूमीनियम फास्फाइड से होने वाली अधिकांश मृत्यु केवल एक कम्पनी द्वारा उत्पादित ब्रांड से होने के कारण की जांच नही हुई है ।

—कीटनाशक से मृत्यु की सूचना अनिवार्य रूप से देने का नियमों में प्रावधान तो है, लेकिन इन आंकड़ों के संकलन का कोई प्रयास नही किया गया है ।

—अगर खाद्य निगम और खाद्य भण्डारों के लिए ही एल्यूमीनियम फास्फाइड के उत्पादन का लाइसेंस है, तो उनकी आवश्यकता से कई गुना अधिक उत्पादन की मंजूरी क्यों दी गई है ।

सच तो यह है कि जनसंख्या घटाने और खाद्य-खाद्यान्न बढ़ाने की अंधी दौड़ में आज हम इतने संवेदनहीन हो गये है कि कीटनाशकों से मरने वाले मनुष्यो को भी कीट से अधिक नहीं समझते । एल्यूमीनियम फास्फाइड से होने वाली अधिकांश मृत्यु को बचाया जा सकता है, उपाय सरल है । नियमों में प्रावधान भी है । बस संकल्प चाहिये । मानव संवेदना चाहिये ।



एक्स-रे–1

चिकित्सा में निदान हेतु एक्स-रे-'क्ष' किरणों का प्रयोग आज एक आम बात हो गयी है। देश के एक अनपढ़ ग्रामीण को भी इसकी जानकारी है और वह "डाक साब, फोटू उतरवा कर देख लो" जैसा अनुरोध लेकर आता है। इसके उत्तरोत्तर बढ़ते व्यापक प्रयोग से यह एक भ्रम धारणा हो चली है कि 'क्ष' किरणों से निदान की विधा सर्वथा नुकसान रहित है। इस भ्रम धारणा को अगर ठीक नहीं किया गया तो गम्भीर परिणाम हो सकते हैं।

निरोधक संभाग की रिपोर्ट

भाभा अणु अनुसंधान केन्द्र का एक विभाग है 'डिविजन आफ रेडियोलोजिकल प्रोटेक्शन' न यानी 'क्ष' किरण दुष्परिणाम निरोधक संभाग। इस विभाग का कार्य है कि ऐसे अस्पतालों और सभी चिकित्सा एवं निदान केन्द्रों का जहां 'एक्स-रे' उपयोग हो रहा हो, सर्वेक्षण एवं निरीक्षण करे और उचित सुझाव एवं नियमों के माध्यम से 'क्ष' किरणों के कुप्रभाव को सीमित रखने में सक्रिय सहयोग दे। इस विभाग द्वारा पारित 1976 की एक रिपोर्ट के अनुसार देश के 7400 केन्द्रों में तब अनुमानतः 10400 एक्स-रे मशीनें काम आ रही थी,—400 बड़े अस्पतालों में और शेष सभी अन्य छोटे चिकित्सा एवं निदान केन्द्रों में। पिछले पांच साल से इसी विभाग द्वारा पारित आंकड़ों के अनुसार, लगभग 6000 और मशीनें लग चुकी होंगी। दुर्भाग्य से साधनों के अभाव में 'क्ष' कुप्रभाव निरोधक विभाग 1976 तक 15 प्रतिशत से भी कम, केवल 1010 एक्स-रे प्रयोग करने वाले केन्द्रों का निरीक्षण कर पाया था। इनमें भी अधिकांश में स्थिति चिन्ताजनक थी।

'क्ष' किरण कुप्रभाव निरोधक विभाग द्वारा समय-समय पर प्रकाशित एवं वितरित विज्ञप्तियों के अनुसार एक बात बड़ी साफ तौर से जान लेनी चाहिए कि 'क्ष' किरण का निदान हेतु उपयोग भी बिना कुप्रभाव के नहीं है। हर एक्स-रे का प्रयोग शरीर पर अपना कुप्रभाव छोड़ता है और सारी उम्र होने वाली एक्स-रे का असर योगिक होता है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि दो एक्स-रे के बीच समय का कितना अन्तराल था। साथ ही यह भी विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि 'क्ष' किरणों के

कुप्रभाव के दुष्परिणाम की गम्भीरता अथवा भयंकरता उसकी मात्रा पर निर्भर नही करती है, वरन् सम्भावित दुष्परिणामों की व्यापकता अवश्य 'क्ष' किरणों के योगिक प्रभाव से बढ़ती जाती है । मिसाल के लिए केवल एक एक्स-रे से भी अगर हुआ तो कैंसर होगा । लेकिन शरीर के विभिन्न अंगों में कैंसर होने का अनुपात भी उसी मात्रा मे बढता जायेगा जितना अधिक एक्स-रे होगा ।

'क्ष' किरणों के कुप्रभाव के दुष्परिणाम का सूक्ष्म अध्ययन किया गया । जिन लोगो के एक्स-रे हुए उनका वर्षों तक अध्ययन कर सावधानी से आंकड़े इकट्ठे किये गये कि उनमें कितनों को कैंसर हुआ और किस अंग का कैंसर हुआ । उन आंकड़ों का बडी सावधानी से वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया । इन आंकड़ों की तुलना उन लोगो में होने वाले कैंसर के आंकडों से की गई जिनका कभी भी एक्स-रे नही हुआ । साथ ही इसका भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया कि क्या अधिक एक्स-रे होने वालों में कैंसर अनुपात में अधिक होता है ?

अजन्मे शिशु पर भी हमला

अध्ययन एवं अन्य प्रयोगो से यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि 'क्ष' किरणों के प्रभाव का दुष्परिणाम दो तरह का होता है । एक जिसका एक्स-रे होता है उसमें कैंसर होने की सम्भावना बढ़ जाती है और दूसरे उसके सन्तान में जन्मजात विकृतियां होने की और उनमें कैंसर होने की सम्भावना बढ़ जाती है । जहा तक स्वयं का प्रश्न है, एक्स-रे से होने वाले लाभ से उसके शरीर और जीवन की रक्षा हो सकती है लेकिन अजन्मे शिशु पर होने वाले दुष्परिणाम की तुलना मे उसे कोई लाभ नही होता ।

एक्स-रे के दुष्परिणाम गम्भीर अवश्य है लेकिन उनकी व्यापकता काफी सीमित है । आंकडो के अनुसार जहां 30 वर्ष की दस लाख महिलाओं में साधारण रूप से दस हजार मे कैंसर होता है, अगर सभी दस लाख महिलाओं का केवल एक पेट का एक्स-रे उतारा जाये तो 6 अधिक महिलाओं को रक्त कैंसर, एक अधिक महिला को स्तन कैंसर और उनकी 48 अधिक सन्तानों में जन्मजात विकृतियाँ होंगी । यह मात्र एक्स-रे के फलस्वरूप हुआ । जितने अधिक एक्स-रे होंगे, दुष्परिणाम मात्र उसी अनुपात से बढ़ते जायेंगे । साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मशीन की खराबी, उनका गलत ढंग से प्रयोग और 'क्ष' किरण के कुप्रभावो को कम करने के साधन अगर सुचारु रूप से न बरते जायें तो दुष्परिणाम की मात्रा और भी बढ जायेगी । लेकिन दुष्परिणाम तत्कालिक न होकर 5 से 50 वर्ष बाद अथवा सन्तति मे होता है अतः इसे गम्भीरता से नही लिया जाता । फलस्वरूप 'क्ष' किरण निरोधक नियम एवं साधनो की अवहेलना हमारे चिकित्सा केन्द्र में आम बात हो गई है ।

दुष्प्रभावों को सीमित करें

मिसाल के तौर पर सामूहिक रूप से 'स्क्रीनिंग' करना वर्जित है । कारण, एक्स-रे का उपयोग मात्र किसी रोग विशेष के निदान के लिए ही किया जाना चाहिए । अगर सौ में से दो को बीमार होने की आशंका हो तो उन्हें ढूंढने के लिए बाकी 98 को 'क्ष' किरण के कुप्रभाव से व्यर्थ प्रभावित करना गलत है । 'स्क्रीनिंग' वर्जित करने का एक कारण यह भी है कि इसका प्रभाव फोटो (प्लेट) उतारने से कई गुणा अधिक होता है । लेकिन हमारे देश में और तो और, डाक्टरों में भर्ती होने वाले हर छात्र-छात्रा को भी सामूहिक 'स्क्रीनिंग' होती है । जहां जिस व्यक्ति का एक्स-रे हो रहा हो, उसके अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को नहीं होना चाहिए । 'क्ष' किरण कक्ष में काम करने वाले सभी व्यक्तियों को जस्ते के कोट पहनने चाहिए । लेकिन एक्स-रे के कमरे में भीड़ और बिना जस्ते के कोट पहन काम करने वाले लोगों के आज आम बात है ।

किसी भी महिला के पेट का एक्स-रे साधारणतया मासिक शुरू होने से दसवें दिन के दौरान में ही होना चाहिए, उसके बाद नहीं । अगर मरीज की हालत ही ऐसी हो कि तुरन्त एक्स-रे करना जरूरी हो तो बात अलग है । एक्स-रे लिखने वाले डाक्टर से यह अपेक्षा की जाती है कि वह मरीज से जानकारी लेकर पर्ची पर लिखे और एक्स-रे करने वाला तकनीशियन इसको देखने के बाद ही एक्स-रे उतारे । लेकिन यह सभी जानते है कि हमारे अस्पतालों में ऐसा नहीं होता ।

बार-बार एक्स-रे, शरीर के विभिन्न भागों के अनेक एक्स-रे, हर अस्पतालों में जाने पर दुबारा एक्स-रे आदि भी नहीं होने चाहिए । 'क्ष' किरण कुप्रभाव निरोधक समिति के सुझाव के अनुसार हर प्रान्त में विशेषज्ञों की समिति होनी चाहिए जो समय-समय पर एक्स-रे केन्द्रों का निरीक्षण एवं जांच कर इस बात का ध्यान रखे कि मशीनों के ठीक रख-रखाव, उपयोग एवं निरोधक नियमों का पालन सुचारू रूप से हो रहा हो । यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि प्रान्त के एक चिकित्सा सचिव जब दुर्घटनाग्रस्त होकर भर्ती हुए तो कुछ ही सप्ताह मे उनके सारे शरीर के दर्जनों एक्स-रे उतारे गये ।

एक्स-रे हानि रहित नहीं हैं, केवल जरूरी होने पर ही करवाना चाहिए । यह सत्य है कि 'क्ष' किरण के कुप्रभाव का दुष्परिणाम औसतन 10,000 में से एक पर होता है लेकिन वह एक आप, मैं, या हमारे बच्चे हो सकते है ।

एक्स-रे–2

आधुनिक चिकित्सा में निदान के लिए एक्स-रे किरणों का उपयोग लगातार बढ़ रहा है, लेकिन चिन्ता का विषय है, इनका नितांत असावधानी से प्रयोग, जिसके परिणामस्वरूप स्वस्थ लोगों में कैंसर और उनकी संतान में जन्मजात विकृतियों और कैंसर आदि घातक रोग का खतरा बना रहता है।

एक्स-रे किरणें सामान्य किरणें नहीं हैं। यह अत्यन्त शक्तिशाली और प्रभावकारी किरणें है, जो जीव कोशिकाओं के पार जाते हुए उन्हें गम्भीर रूप से प्रभावित करती हैं। कोशिकाओं से गुजरती यह किरणें कोशिका में ऐसे रासायनिक अणु पैदा करती हैं, जो शक्तिशाली आक्सीडाइजिंग या रिड्यूसिंग अणु होते हैं। इन अणुओं के प्रभाव से कोशिका के केन्द्र में स्थित डी. एन. ए. अणु में सूक्ष्म रासायनिक परिवर्तन हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप लम्बे अन्तराल के बाद वह कोशिका, कैंसर कोशिका में बदल सकती है।

जननेंद्रियों पर इन किरणों के कुप्रभाव से स्त्री और पुरुषों की बीज कोशिकाएं डिम्बाणु और शुक्राणु मे ऐसे परिवर्तन हो सकते हैं कि उनसे उत्पन्न बच्चों मे जन्मजात विकृतियां या बचपन में रक्त कैंसर या आगे चलकर कैंसर हो सकता है।

ज्यादातर बीज कोशिकाओं में तो परिवर्तन इतने गम्भीर होते हैं कि वे स्वयं ही नष्ट हो जाती है, जिनमें सूक्ष्म परिवर्तन होते है, मात्र ऐसी ही कोशिकाएं संतति को नुकसान पहुंचाती है और वे भी तब, जब पिता के शुक्राणु और माता के डिंब दोनों में ही एक से सूक्ष्म, स्वयं मे अप्रभावी (रिसेसिव) पर मिलन पर प्रभावी परिवर्तन मौजूद हो। इस संभावना की अभिव्यक्ति निर्भर करती है कि जन समूह या जनसंख्या मे कितने लोगों में ऐसी अप्रभावित (रिसेसिव) परिवर्तित बीज कोशिकाएं मौजूद हैं, जितने अधिक लोगो में यह मौजूद होगी उतनी ही उनके मिलन की और परिणामस्वरूप कैंसर या अन्य रोग का खतरा रहेगा।

भारत में लगभग तीस हजार एक्स-रे मशीनें काम मे लायी जा रही हैं, जिन पर प्रति दिन की 10 औसतन दर से एक साल में लगभग 9 करोड़ एक्स-रे होते है। एक्सरे से उत्पन्न कैंसर दस से बीस साल लेते है और संतति में उत्पन्न होने वाली विकृतियों के लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति विशेष से संतान उत्पत्ति की संभावना हो। इसलिए गणना के लिए तीस साल और उससे कम उम्र के व्यक्तियों को ही लिया जाता है।

भारत में प्रति वर्ष एक्सरे करने वाले, नौ करोड़ लोगों में लगभग पांच करोड़ तीस से कम उम्र के होते हैं। अगर ये लोग अपने पूरे जीवनकाल में फिर कभी एक्सरे न भी करवायें, तो उनसे कैंसर और संतति विकृतियां हो सकती हैं।

यह गणना राष्ट्र संघ की एक कमेटी की उपलब्ध विकिरण के प्रभाव पर रिपोर्ट के तथ्य पर आधारित है। आंकड़े भयभीत करने वाले नहीं हैं। कारण औसतन एक्सरे किरणों से होने वाले कैंसर की यह दर प्रति एक लाख व्यक्ति एक कैंसर है ?

लेकिन यह तो तब है, जब एक्सरे मशीनें उत्तम हों, उनके रखरखाव का सुचारु प्रबन्ध हो और एक्सरे करने की विधि में सुरक्षात्मक उपाय का अक्षरशः पूर्ण रूप से पालन हो।

हमारे यहां स्थिति सर्वथा विपरीत है। खराब और निम्न कोटि की मशीनें और सुरक्षात्मक नियमों की सर्वथा अवहेलना सर्वत्र देखने को मिल सकती है। ऐसे में कितने मरीज और उनके साथ आने वाले सम्बन्धी नाहक ही कैंसर और उनकी संतति में विकृतियों के शिकार होते हैं, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

एक्सरे करने के समय, किरण छिटक कर चारों ओर बिखरती है। इसलिए आवश्यक है कि रोगी के अतिरिक्त उस समय अन्य कोई भी उस कमरे में न हो। अगर रहना आवश्यक हो तो सीसे (लेड) का कोट पहने, इसके अतिरिक्त छिटकी हुई किरणें पतली दीवार और लकड़ी के दरवाजों को भेदकर बाहर जा सकती हैं और वहां स्थित लोगों को प्रभावित कर सकती है। अतः आवश्यक है कि कमरे की दीवारें यथेष्ठ मोटी हों, दरवाजे और खिड़कियों पर सीसे की चद्दरें लगी हों और वे एक्सरे करने के समय बंद रखी जायें, लेकिन ऐसा किया नहीं जाता और उसके परिणामस्वरूप 5 करोड़ रोगियों के साथ आये 10–15 करोड़ लोग व्यर्थ ही विकिरण से प्रभावित होते हैं।

प्रशासन का दायित्व है कि वह एक्सरे उपकरणों के उचित उपयोग की सुचारु व्यवस्था करे। परमाणवीय ऊर्जा सुरक्षा बोर्ड ने कानून के तहत चिकित्सा निदान के लिए आनेवाली एक्सरे मशीनो के नियंत्रण और सुरक्षा उपायों को विधिवत पालन करने के लिए विस्तृत नियम बनाये है। उनका पालन नहीं करने वालों के लिए सजा की व्यवस्था भी है। यह अनिवार्य है कि हर एक्सरे यूनिट से एक विकिरण सुरक्षा अधिकारी सम्बन्धित हो, जो इन नियमो के पालन की व्यवस्था करवाये और उन पर अनुशासन रखे।

चिकित्सा सेवाओं का गिरता स्तर

चिकित्सा सेवाओं के गिरते स्तर पर हाल ही प्रतिलक्षित जन चिन्ता और चिन्तन, एक आशाकारी लक्षण है। वैसे तो समाज के जीवन मूल्यों में गिरावट से कोई भी क्षेत्र अछूता नही रहा है, लेकिन चिकित्सा विज्ञान में अप्रत्याशित प्रगति के कारण अति प्रभावी औषधियाँ, शक्तिशाली जटिल उपकरण और निदान की नई विधियों के आगमन से, दक्षता, क्षमता और सतर्कता के स्तर में गिरावट के घातक परिणाम हो सकते है, वरन् हो रहे है।

चिकित्सा से हजारों लोगों की जान बचती है यह तो सर्वविदित है लेकिन शायद यह जानकर आश्चर्य हो कि प्रदेश की विशेषकर जयपुर की आधुनिक महामारिया है—दवा जनित रोग (आयट्रोजेनिक डिजीजेज), सीजेरियन आपरेशन से जन्म, गर्भाशय और पित्त की थैली का निकालना (हिस्टरेक्टोमी और कोलेसिस्टेक्टोमी), अस्थानिक गर्भ (एक्टोपिक प्रगनेन्सी) और कीटनाशको से मृत्यु।

आज टी. बी. मे दी जाने वाली रिफाम्पिसिन, टाइफाइड की दवा क्लोरोमाइसिटिन और दर्दनाशक अनेक दवाओं के लिए दिए जाने से जितने लोग मरते है, उतने किसी महामारी मे नही। व्यर्थ के सीजेरियन (अस्पताल में होने वाले प्रसवो मे कुछ पूर्व जहाँ 20 मे से एक के सीजेरियन होता था वही आज हर 3 में से एक मे सीजेरियन होता है) इतने गर्भाशय आज निकाले जाते हैं कि आश्चर्य होता है। गर्भ निरोधक विधियो के अनियमित प्रयोग से डिम्वनली मे गर्भ (ट्यूबल प्रेगनेन्सी) की दर अत्याधिक बढ गयी है जिसकी बलि सैकड़ों महिलाएँ चढ़ती हैं। और कीटनाशको से होने वाली मृत्यु में तो राजस्थान देश में अग्रणी है।

आश्चर्य यह नही है कि यह सब हो रहा है। आश्चर्य तो यह है कि इनकी जाच-पड़ताल करने के या रोकने की कोई व्यवस्था नही है। भूल, असावधानी, अवज्ञा, अदक्षता, अज्ञानता या इच्छाकृत दुर्घटनाएँ तो होना स्वाभाविक है। इसीलिए चिकित्सा प्रणाली मे इनके प्रति सजग रहने, इनको समय पर प्रकाश मे लाने और रोकने की नियमित व्यवस्था का विधान है। लेकिन क्या हम उसका पालन कर रहे है ? क्या इसके प्रति जागरुकता है ? नही।

कैसी विडम्बना है कि जिनको देश में उपलब्ध श्रेष्ठ चिकित्सा सेवा का लाभ मिलता है, जिनकी चिकित्सा श्रेष्ठ चिकित्सकों द्वारा अत्यन्त सजगता और सतर्कता के साथ की जाती है, उन्हीं की मृत्यु के उपरान्त चिकित्सा की खामियों के प्रति अत्यधिक शोर मचता है और कमीशन बैठते है। जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया, इन्दिरा गांधी हों या नवलखा इतिहास साक्षी है, लीक पीटने और लाखों रुपए व्यर्थ करने के अतिरिक्त कुछ हासिल नही होता।

चिकित्सा सेवाओं के स्तर का सर्वमान्य मापदण्ड है रोगियों के चिकित्सा सम्बन्धी रिकार्ड की पूर्णता, रोगी के भर्ती के समय उसकी तकलीफ का पूर्ण विवरण, चिकित्सकों ने जांच कर क्या पाया, क्या निदान किया, क्या जांच वगैरह की और क्या औषधियां आदि शुरू की? इसका विवरण देना आवश्यक है। इसके उपरान्त प्रतिदिन रोगी की हालत का मापदण्ड, निदान में क्या मिला और चिकित्सा में क्या परिवर्तन किया गया, इसका नियमित उल्लेख होना चाहिए। इतना ही नहीं, आवश्यक यह है कि विशिष्ट डॉक्टर रोगी को देखते समय इस रिकार्ड को देखें और आश्वस्त हों कि कनिष्क ने सब कार्य ठीक किया है और अपने स्वयं की राय लिखे एवं हस्ताक्षर करें। अपने कनिष्क के कार्य के लिए वरिष्ठ उत्तरदायी है और यह आवश्यक है कि वह यह बहाना न ले पाए कि यह कनिष्क ने किया था और मुझे इसकी जानकारी नही थी। शिक्षा संस्थान में प्रोफेसर का कार्य स्वयं चिकित्सा करने से अधिक यह देखना है कि उसके यूनिट के डॉक्टर सही उपचार नियमानुसार कर रहे है या नही। यूनिट में रोगी के उपचार का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व यूनिट के प्रमुख का होना चाहिए। यूनिट के अन्य डॉक्टर केवल अपने प्रमुख के प्रति उत्तरदायी हैं अन्य किसी के नहीं। जब तक हम रोगी के रिकार्ड पूर्ण करवाने की व्यवस्था नहीं कर सकते किसी भी प्रकार के मूल्यांकन की विधि नही अपनाई जा सकती और किसी प्रकार के सुधार की भी अपेक्षा नही की जा सकती।

चिकित्सा आडिट—सप्ताह में एक बार वरिष्ठ डॉक्टरों के चिकित्सा समिति वार्ड का दौरा करती है। उनका कार्य होता है रोगियों के कम से कम 10 प्रतिशत अर्थात् 30 के वार्ड में 3 का, चिकित्सा विवरण देखे और जांच कर सन्तुष्ट हो कि चिकित्सा सही चल रही है और ऐसा यदि न हो तो वह विवरण पत्रिका में लिखे या चिकित्सा अधीक्षक को इसकी सूचना देवे।

औषधि आडिट—इसी प्रकार औषध समिति जिसमें भेषज विज्ञान का एक डॉक्टर भी होता है, समय-समय पर वार्ड में रोगियों के रिकार्ड्स देखते है। उनका कार्य यह देखना होता है कि रोग निदान के अनुसार सही दवाएं दी जा रही है या नहीं। साथ ही दवाएं सही मात्रा में दी जा रही है या नही तथा दवाओं का कोई कुप्रभाव तो नहीं हो रहा है आदि।

निदान ग्राडिट—निदान समिति का कार्य होता है चिकित्सा विवरण का लेखा-जोखा देखकर यह तय करना कि सही निदान की विधियाँ अपनाई जा रही हैं। व्यर्थ परीक्षण तो नहीं किया जा रहा है। परीक्षण से वांछित लाभ भी हो रहा है या नहीं। इस समिति में पैथोलोजी, रेडियोलोजी ग्रौर बायोकेमिस्ट्री के विशेषज्ञ होते हैं।

मृत्यु ग्राडिट—यह सबसे आवश्यक मूल्याकन की प्रक्रिया होती है। वांछित तो यह है कि ग्रस्पताल में होने वाली प्रत्येक मृत्यु का पोस्मार्टम हुए बिना मृत्यु के वास्तविक कारण का पता नही चलता ग्रर्थात् वास्तविक कारण के प्रमाण नहीं मिलते। चिकित्सा मे क्या कमी रही है, क्या गलती हुई है, इसका ग्राकलन केवल इसी से हो सकता है। हमारे सामाजिक सन्दर्भ में ग्रभी यह सम्भव नहीं है लेकिन कम से कम उन मृत्यु मे तो यह होना ग्रनिवार्य है जिनमें मृत्यु के कारण में थोड़ा-सा भी सन्देह है ग्रथवा लापरवाही की शिकायत है।

पोस्टमार्टम या ग्रोटोपसी के एवज में चिकित्सा विवरण के ग्राधार पर मूल्यांकन हो सकता है। यह विशेषज्ञों की समिति करती है। मृत्युपरान्त मृत का चिकित्सा विवरण का रिकार्ड समिति के सामने जाता है। आवश्यक होने पर वे चिकित्सा करने वाले डॉक्टरों को बुलाकर पूछताछ करते है। यह समिति यह प्रमाणित करती है कि किसी प्रकार की लापरवाही, भूल ग्रथवा गडबड़ से मृत्यु नही हुई। भविष्य मे प्रश्न उठने पर यह समिति उत्तरदायी होती है। यदि किसी को ग्रपने परिजन की मृत्यु के कारण सन्देह हो तो वह इस समिति को लिखकर देता है।

मासिक व वार्षिक मूल्यांकन—प्रत्येक समिति के मूल्यांकन की रिपोर्ट वरि मूल्यांकन समिति के सामने पेश की जाती है। इसमे ग्रस्पताल विभागाध्यक्ष, ग्रधीक्ष ग्रौर प्रमुख होते है। ग्रस्पताल में चिकित्सा सुविधा सम्बन्धी सभी निर्णय इन समितियो की रिपोर्ट ग्रौर ग्रांकड़ों के ग्राधार पर लिये जाते है।